श्रेष्ठ हिन्दी गीत संचयन

भूमिका, चयन एवं संपादन

कन्हैया लाल नन्दन

श्रेष्ठ हिन्दी गीत संचयन

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

श्रेष्ठ हिन्दी गीत संचयन

भूमिका, चयन एवं संपादन

कन्हैयालाल नंदन

साहित्य अकादेमी

Shreshtha Hindi Geet Sanchayan : An anthology of selected Hindi lyrics : compiled and edited by Kanhaiyalal Nandan, Sahitya Akademi, New Delhi

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली 110 001

विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

172, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुंबई 400 014

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23 ए/44 एक्स.,
डायमंड हार्बर रोड, कोलकाता 700 053

सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी. आर. आंबेडकर वीथी, बंगलौर 560 001

चेन्नई कार्यालय

मेन बिल्डिंग, गुना बिल्डिंग्स (द्वितीय तल), 443(304)
अन्नासालइ, तेनामपेट, चेन्नई 600 018

ISBN 81-260-1211-0

मूल्य : दो सौ रुपये

मुद्रक : नागरी प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032

अनुक्रम

प्रथम पर्व

द्वितीय पर्व

तृतीय पर्व

गीत : एक अनवरत नदी

(गीत की अविराम यात्रा)

गीत की जब भी बात उठती है, तो मुझे उमाकांत मालवीय अपनी पंक्ति के साथ याद आते हैं कि 'गीत एक अनवरत नदी है'। उन्होंने कहा कि इस अनवरत धार में नेकी और बदी दोनों बहते हैं। उन्होंने गीत में पत्थर के पिघलते मसौदे भी देखे, पत्थर पर उगे हुए तुलसी के पौदे भी और इस अनवरत प्रवहमान धारा की लहर-लहर में उन्हें किरणों के वलय कौंधते हुए दीखे। इतना ही नहीं, इसकी उदात्तता को उन्होंने सूफ़ी संत सरमद की अन्नलहक़ की पुकार का पर्याय तक बताया।

गीत की लंबी यात्रा में गीत के तमाम रूप देखने को मिलते हैं। यह भी बताऊँ कि उमाकांत मालवीय अकेले रचनाकार नहीं हैं। उनके आगे भी और पीछे भी एक लम्बी सरणि है, जिसने गीत के अभ्यंतर को शब्दों में रूपायित करने की चेष्टा की है। इंदिरा गौड़ ने तो स्त्री-पुरुष के समूचे प्रकृत संबंधों को गीत के रूप में ही देखा है और कहा है :

"गुनगुनाओ तो सही तुम तनिक मुझको
मैं तुम्हारे गीत का पहला चरण हूँ।"

मेरे समकालीन रचनाकार सोम ठाकुर ने गीत को 'समन्दर के ज़िन्दा रतन' कहा है :

"कल्पवृक्षों के सुनहरे फूल हैं ये
दर्द की आकाशवाणी के वचन हैं
तू उन्हें दिल के ख़ज़ाने में सँजो ले
गीत ये ज़िन्दा समन्दर के रतन हैं।

रामगिरि के यक्ष से ये कब अलग हैं
और कब दमयंतियों से दूर हैं ये
ज़हर का प्याला पिये सुकरात हैं ये
ख़ुद ब ख़ुद सूली चढ़े मंसूर हैं ये
छोड़ने पर भी न छूटेंगे कभी, ये
भावना के मुँह लगे आदिम व्यसन हैं;
...ये समय के सत्य से उलझे सपन हैं।"

सोम की इन पंक्तियों में गीत में अभिव्यक्त राग-विराग, दर्शन, चिंतन, सत्यान्वेषण,

भावना के उद्देश्य के छलकते रसघट, आनन्द की अजस्र बहती धारा, प्रेम पर्वों पर आँसुओं के घाट पर गूँजते भजनों और सूनेपन की वीथियों में भटकी हुई बयार...इस सबका आभास एक साथ हो जाता है। निराला ने लिखा था :

"गरज गरज घन अंधकार में गा अपने संगीत
बंधु, वे बाधा बंधविहीन
आँखों में नवजीवन का तू अंजन लगा पुनीत
बिखर झर जाने दे प्राचीन
...भर उद्दाम वेग से बाधा हर तू कर्कश प्राण
दूर कर दे दुर्बल निःश्वास
किरणों की गति से आ आ तू, गा तू गौरव गान
एक कर दे पृथ्वी आकाश।"

उन्होंने माना था कि गीत में वह शक्ति है, जो किरणों की गति से आकर पृथ्वी और आकाश को एक कर देने की क्षमता रखती है।

अपार क्षमतावाली इस काव्य विधा की छवियाँ विविधवर्णी हैं; गीत कर्म का उद्‌बोधन है, प्रेम का आत्मनिवेदन है, संवेदना की मानक छवि है, रागात्मकता का प्रतिफलन है, विडंबनाओं की प्रतिध्वनि है। संभवतः कविता का आदिम रूप है, जिसे मनुष्य मात्र की मातृभाषा कहा जा सकता है। कोई ऐसा मानव समुदाय नहीं, जिसका अपना गीत, संगीत और नृत्य का विशिष्ट भंडार न हो। गीत, संगीत और कविता के बीच भिन्नता दर्शानेवाली काव्यशास्त्रीय परिभाषाएँ बहुत प्राचीन नहीं हैं, यों कविता मनुष्य का शब्द जीवन भी है। मानव सभ्यता के प्रारंभिक सरलतम रूप—गुफ़ावास या घुमंतू जीवन से लेकर आज इक्कीसवीं सदी में प्रविष्ट हो चुके कम्प्यूटर संचालित वैश्वीकृत जटिलतम महानगरीय जीवन तक में आत्माभिव्यक्ति, आत्मप्रकाशन और संचरण मानव-जीवन और चिति का अभिन्न अंग है, उसकी अपरिहार्य आवश्यकता है।

O

मानव-विकास के आदि क्रम में अभियक्ति नादात्मक रही होगी और संगीत और गीत दोनों की उत्पत्ति नाद से ही हुई होगी। निश्चय ही आदिम अवस्था में शब्दों का भण्डार और ज्ञान की मात्रा अल्प ही रहे होंगे। व्यक्तिगत और सामुदायिक अनुभव जगत और प्रतिक्रियाएँ भी लगभग अपृथक् रहे होंगे और उन्हीं से उठा हुआ लोक गीत क़रीब-क़रीब उतना ही सहज, उत्स्फूर्त और मार्मिक रहा होगा, जितना कि कोकिल का पंचम स्वर, बुलबुल का दर्दीला गान और मयूर का नृत्यमय केका-स्वर। गीत के साथ नाद और गेयता का सम्बन्ध उसकी संज्ञा और संरचना में ही अनुस्यूत है। ऐसा नहीं कि गाये बिना गीत गीत नहीं रहता, लेकिन गेयता उसकी प्रकृति का अंग है और इसी प्रकृति को रेखांकित करते हुए जगदीश गुप्त ने लिखा है कि "लोकगीतों से लेकर सिने गीतों तक भारतीय जनमानस को गीत कहीं इतनी गहराई से जकड़े हुए है कि उसका स्वर कैसा भी हो, वह उसे ग्राह्य हो जाता है।"

इन स्वरों में व्यक्ति की सामाजिक साझेदारी सामाजिक संरचना को भी रेखांकित करती रही। समाज-रचना और मानव-जीवन में जटिलताओं के बनते जाने की वजह से लोकगीतों

की प्राकृतिक सहजता तो धीरे-धीरे कुण्ठित होती रही, लेकिन साथ ही मनुष्य की भाषा-सम्पदा बढ़ने, अनुभूति-संसार में अभिवृद्धि होने और व्यापकता आने की वजह से लोकगीतों के समानान्तर ही कलागीतों की भी रचना होने लगी। लेकिन यह सुखद स्थिति रही कि अपने मूल स्रोत की सहजता, संगीतात्मकता और भावात्मकता की विरासत को उसने पूरी तरह गवाँ नहीं दिया, वरन् उसे एक नए रूप में, परिष्कृत कर प्रस्तुत कर दिया। नाद, लय, छन्द के रूप में संगीतात्मकता कविता की पूरी बुनावट में बनी रही, इसीलिए वह सदैव अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रख पायी। विश्व-विख्यात कवि-कथाकार एडगर एलन पो ने कहा है, "संगीत का जब किसी प्रीतिकर कल्पना से संयोग होता है, तो वह कविता बन जाती है। बिना कल्पना का संगीत मात्र संगीत रह जाता है। संगीतरहित कल्पना, अपनी स्पष्टता अथवा निश्चितता के कारण गद्य का रूप धारण कर लेती है।" चूँकि मन की गहनतम भावना का संगीत से निकट का सम्बन्ध है, इसीलिए संगीत समीक्षक मीयर ने यहाँ तक कहा कि "कविता शब्दमय संगीत है और संगीत ध्वनिमय कविता !" हालाँकि यह निष्कर्ष सामान्य कविता पर भी लागू होता है, लेकिन वस्तुतः गीत ही इस कसौटी पर सर्वाधिक खरा उतरता है।

मीयर की यह धारणा भी विचारणीय है कि "कविता, आदिम मानव की सहज, अविवक्षित चिल्लाहट या पुकार मात्र थी। भय, उल्लास, आश्चर्य, अवसाद या प्रेम के अप्रत्याशित आवेग को लयबद्ध ध्वनियों या गीत-क्रमों में अभिव्यक्त किया जाने लगा और यही कविता का आदि स्वरूप था। ये ध्वनियाँ मूल रूप में शब्दार्थविहीन थीं। बाद के युग में विकसित गीतों में उनके अवशेष, उन्हीं के बीच समाविष्ट हो गये।"

O

कविता में गीत को 'आवेगमय भावनाओं का स्वतःस्फूर्त उफान' भी कहा गया है। अंग्रेज़ी के सुप्रसिद्ध कवि पी.बी. शेली ने कहा है, "काव्य कोई तर्क-शक्ति नहीं, जो स्वेच्छापूर्वक काम में लायी जा सके। कोई कवि यह नहीं कह सकता कि मैं कविता रचूँगा, बड़ा कवि तो और भी ऐसी बात नहीं कह सकता। रचना करनेवाली शक्ति तो भीतर से वैसे ही आती है, जैसे फूल का रंग फूल के विकास के साथ-साथ ढलता और बदलता रहता है तथा हमारी चेतन शक्तियाँ, उस अदृश्य प्रभाव का न आना जानती हैं और न जाना।" और इसीलिए कवि-कर्म आसान नहीं। सर्वसुलभ भी नहीं। यह क्षमता सहज उपलब्ध नहीं होती, उसके लिए गहन-सघन, अनवरत साधना की आवश्यकता होती है। तपना पड़ता है। कवि सुमित्रानंदन पंत ने *गुंजन* में कहा भी है :

"तप रे मधुर-मधुर मन
विश्व वेदना में तप प्रतिपल
जग-जीवन की ज्वाला कोमल
अपने सजल-स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम
स्थापित कर जग में अपना मन,
ढल रे ढल आतुर मन।"

यहाँ कविता और गीत की रचना को एकरूप देखकर मैं कहना चाहूँगा कि गीत-रचना एक साधना भी है और सिद्धि भी। महादेवी वर्मा ने अपने काव्य-संग्रह *सांध्यगीत* की भूमिका में लिखा है, "सुख-दुख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है; इसमें कवि को संयम की परिधि में बँधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है, वह सहज प्राप्य नहीं... वास्तव में गीत के कवि को आर्तक्रंदन के पीछे छिपे हुए दुःखातिरेक को दीर्घ निःश्वास में बँधे हुए संयम से बाँधना होगा, तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा।"

संयम में बँधी हुई यही आत्माभिव्यक्ति या व्यक्तित्व-प्रक्षेपण समग्र कला विधाओं का अनिवार्य अंग है, लेकिन गीत-विधा में वह पराकाष्ठा पर पहुँचा होता है। गीत-रचना के दौरान बुद्धि अनुभूति से उत्तेजित रहती है और अनुभूति बुद्धि से प्रोद्भासित। विचार, भाव, अनुभूति और अभिव्यक्ति की अभिन्नता एवं एकरूपता गीत विधा की विशिष्टता है और यह विशिष्टता गीतकार को अपने चतुर्दिक् के विश्व और उससे भी परे की एक स्थिति में, उस विशिष्ट रचना-काल के लिए ही क्यों न हो, ले जाती है। कवि स्टीफ़ेन स्पेंडर ने कहा कि, "काव्य-रचना के क्षणों में मैं जिस शब्द-संगीत को साधने का उपक्रम करता हूँ, वह मुझे कभी-कभी शब्दों से परे ले जाता है, जहाँ मुझे केवल एक लय का, एक नृत्य का, एक तीव्र ऊर्जा का अनुभव होता है, जो प्रायः शब्दशून्य होती है।" और इस अवस्था में बार-बार पहुँचने के लिए गीतकार छटपटाता है, अन्तर्द्वन्द्वों से जूझता है, बाहरी संघर्षों का सामना करता है और इस संघर्ष को गीत में ध्वनित करता है। गीतकार रवींद्र भ्रमर ने झरबेर के कँटीले पेड़ पर गाने के अभ्यासी वनपाखी से तादात्म्य कर कहा है :

"पंछी में गाने का गुन है
दो तिनके चुन कर
वह तृप्त जहाँ होता है
गीतों की कड़ियाँ
बोता है !...
...कँटीली टहनी, सूखे पेड़
बियावान, सुनसान
उसे नहीं खलते हैं,
उसके तन में
चुभी हुई है
कोई वंशी
उसके रोम-रोम में
सुरवाले मीठे सपने पलते हैं !"

गीत की इस यात्रा-कथा में प्रारंभ से देखें, तो उसके पाठ और उसकी रचना में लय भी लगातार जुड़ी रही और लयात्मकता उसका अनिवार्य अंग रही, जिसके साथ प्रारंभ में ध्वनि-लय

का महत्त्व रहा। ध्वनि के साथ शब्द जुड़ा और शब्द की लय (रिद्म आफ़ वड्‌र्स) महत्त्वपूर्ण हो उठी। नई कविता तक आते-आते उसकी लय उसके आंतरिक रचाव में पैठकर 'अर्थ की लय' यानी रिद्म ऑफ़ मीनिंग में परिवर्तित हो गई। अर्थ की लय को भी समय-संदर्भों ने बदला और उसमें व्यापकता आई, जिसे गीत के नव्यतम रूप 'नवगीत' में रूपायित देखा जा सकता है। सुविधा के लिए हम इसे सह-संबंधों की लय (रिद्म ऑफ़ कोरिलेशन) का नाम दे सकते हैं। इन संबंधों में व्यक्ति का प्रकृति, परिस्थिति और परिवेश तीनों से संबंध है। प्रकृति का परिस्थितियों से भी संबंध है और परिवेश का व्यक्ति और प्रकृति से संबंध भी है।

इन संबंधों का एक चेहरा गीत में आज के जीवन की त्रासद स्थितियों में है, जिसे आज के नवगीतकार लोक से उठाए हुए मुहावरे के साथ सटीक भाषा में व्यक्त कर रहे हैं। उन त्रासद स्थितियों के चित्रण में भी आपको एक लय पिरोयी मिलती है, जिसे पीड़ा की लय कहा जा सकता है—रिद्म ऑफ़ टार्चर।

इसमें से कोई भी लय विखंडित होती है, तो गीत अपने विन्यास में ही उसे ध्वनित कर देता है। आज के जीवन की विडंबनाएँ, भले ही वे राजनीतिक हों, सांस्कृतिक हों, आर्थिक हों, सामाजिक हों अथवा आंतरिक मानवीय संबंधों की हों, गीत इनकी विखंडित लय को बखूबी वाणी देता रहा है और दे रहा है। बच्चन जी ने गीत में लय की इस अनिवार्य उपस्थिति को यों व्यक्त किया है :

"भाव की तीव्रता और उसकी एकता से गीत आज भी मुक्त नहीं है। इस आधार पर मुक्त छंद में लिखी बहुत सी कविताएँ गीत की कोटि में आएँगी। यही भाव की तीव्रता और एकता उस लय को जन्म देगी, जो गीत का प्राण है और जिससे मुक्त छंद भी छुटकारा नहीं पा सकता।"

गीत के सच्चे जानकार और हितैषी को गीत में लय टूटती नज़र आती है, तो वह समूची विधा को लेकर चिंतित होने लगता है।

O

गीतकार के सुरीले मीठे सपन नितान्त वैयक्तिक सुख-दुख की उपज हों, तो भी वे संकीर्ण, स्व-केन्द्रित पलायन-मात्र नहीं रह जाते। उनकी निजी वेदना भी व्यापक जगत के मानव-मात्र की वेदनानुभूति बन जाती है, उसका अपना व्यक्तिगत संघर्ष भी सामुदायिक मोर्चे पर लड़े गए संघर्ष का ही एक हिस्सा बन जाता है; इसीलिए वह कभी 'तटस्थ' नहीं रहता। हरिवंशराय बच्चन की *मधुकलश* की पंक्तियाँ मेरी इस बात का साक्ष्य हो सकती हैं :

"सिंधु के इस तीव्र
हाहाकार में विश्वास मेरा,
है छिपा रक्खा कहीं पर
एक रस-परिपूर्ण गायन !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज लहरों में निमन्त्रण।"

सवाल यह है कि अगर गीत-कविता मानव जीवन का, उसकी कला और संस्कृति का,

उसके मनोजगत और बाह्यजगत का इतना अहम और अभिन्न अंग है, तो फिर गीत पर, उसकी उपादेयता और अनिवार्यता पर बीच-बीच में, और लगातार, विभिन्न देशों और कालों में इतने-इतने प्रहार क्यों होते आये हैं ?

लगभग सन् 1940 के बाद से (सुविधा के लिए इसे 'छायावादोत्तर काल' कह लें) गीत-विधा के सामने एक-से-एक चुनौतियाँ, एक-से-एक सवालिया चिह्न खड़े किये गये हैं। सामान्य कविता के लिए भी यह बड़े संघर्ष का समय रहा है। कविता और गीत के इस बहुकोणीय संघर्ष को समीक्षक सी. एल. प्रभात के इस लम्बे उद्धरण से बखूबी जाना जा सकता है—

> "सच बात यह है कि छायावाद के बाद कविता का वह दौर और वे धाराएँ तेज़ी से मर रही थीं, जो समकालीन होते हुए भी समय की जीवन्त सम-सामयिकता से कटी हुई थीं और इसी अर्थ में कहा जा रहा था कि 'कविता का युग बीत गया है।' गीत के सन्दर्भ में यह बात और भी सही थी। वह समय के साथ व्यक्ति और समाज के बदलते संदर्भों की व्यंजक खुरदरी भाषा को नहीं पकड़ पाया और 'कोशिशों' को नहीं सिर्फ़ 'अहसासों' को दुहराता रहा (यानी शुद्ध संवेदन का स्वर बना रहा) जबकि युग ताज़ा उपलब्धियों और नयी असफलताओं से जुड़े सजग, संकुल, उलझे तनावपूर्ण बोधों की चर्चा कर रहा था; इसीलिए बहुत-से लोगों ने तो गीत को कविता के आसन से ही ढकेल दिया। इसी बीच एक दुर्घटना और हुई। हर असहमति को विद्रोह और हर परिवर्तन को क्रान्ति घोषित करके 'युग प्रवर्तन' की प्रतियोगिताएँ प्रारंभ हो गईं। क्रान्ति तो क्रान्ति होती है, पर उसकी 'नक़ल' क्रान्ति नहीं होती। सातवें दशक में विप्लव-व्यवसायियों द्वारा उन्हें भी क्रान्ति घोषित किया जाने लगा। इस आपाधापी में गीत ने भी हाथ-पाँव तो मारे, प्रगीत, अगीत, नवगीत आदि के आन्दोलन छेड़े, पर लोकप्रियता के बावजूद वह अपने सहयात्रियों से पीछे रह गया। यह बात नहीं है कि गीत के क्षेत्र में अच्छी रचनाएँ हुईं ही नहीं, पर समालोचना के फ़ैशनेबल पंडों और काव्य मूल्यों के स्वयंभू सिपहसलारों ने उन्हें स्थापित नहीं होने दिया, यहाँ तक कि गीत की सुन्दरतम उपलब्धियों को भी नज़रअन्दाज़ कर दिया।"

असल में गीत-कविता और *कविता के बीच को हिन्दी* में जिस तरह एक अलंघ्य खाई के रूप में देखा और पेश किया गया, वह हिन्दी कविता के लिए एक दुर्भाग्य की बात है। नयी कविता के उदय के पहले तक यह खाई न के बराबर थी। छायावाद में निराला ने छंद और गीत के जो बन्धन तोड़े, उसने दोनों विधाओं के बीच दरार नहीं पैदा की, बल्कि इसे एक 'दरकार' के रूप में सामने रखा, लेकिन नयी कविता तक आकर यह दरकार दरार बन गयी।

वस्तुतः इस दरार को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने और नयी कविता को गीत के विरोध में खड़ा दिखाने के प्रयास करनेवालों ने सही परिदृश्य को पकड़ा ही नहीं। अगर बारीकी से जानने की कोशिश करें, तो नयी कविता के कवि गीत की ज़मीन पर पैर रखकर ही आगे बढ़े हैं और आज भी उनकी रचनाओं में गीत का सुथरा प्राणतत्त्व मौजूद मिलता है। नयी

कविता के वे कवि, जो सीधे नयी कविता से जुड़े, उनमें कविता की नैसर्गिक रागात्मकता ज़रूर नदारद मिलती है। वे इसीलिए ज़्यादा विषम और गीतविरोधी होकर उभरे हैं। गीत के एक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर दिनेश सिंह ने उन्हें 'दुरूह और खुरदरे' कहा है; वरना तो नयी कविता के समर्थ कवियों ने गीत को नयी भाषा भी दी है और नया कथ्य भी। धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रामदरश मिश्र जैसे अनेक समर्थ रचनाकार इसके उदाहरण हैं। पश्चिमी भारत में, प्रमुखतः मुंबई में नयी कविता को स्थापित करने के लिए उसके सशक्त पैरोकार थे रामावतार चेतन, सत्येंद्र श्रीवास्तव और रामबहादुर सिंह मुक्त। ये तीनों ही कवि अपने समय के श्रेष्ठ गीतकार रहे और जिस समय वे वहाँ नयी कविता की धुआँधार वकालत में जुटे हुए थे, उस समय भी अच्छे गीत लिख रहे थे। नयी कविता जिनकी छत्रछाया में ख़ूब पनपी, उन अज्ञेय जी की अनेक कविताओं में गीत तत्त्व की प्रधानता है, छंद भी है, तुक और ताल तथा लय भी। उनकी बहुउद्धृत कविता 'साँप' सीधा-सीधा गीत है, जो प्रयोग की ज़मीन पर टिककर खड़ा हुआ है :

> *"साँप तुम सभ्य तो हुए नहीं, न होगे*
> *नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया*
> *एक प्रश्न पूछूँ ? उत्तर दोगे ?*
> *तब कहाँ सीखा डसना*
> *विष कहाँ पाया ?"*

धर्मवीर भारती ने तो अपने अंतिम संग्रह *सपना अभी भी* के पहले की कविताओं को *सात गीत वर्ष* शीर्षक से ही प्रकाशित किया। उनका मानना था कि सबसे मीठा बोल गीत ही है। गीत के उपादानों के पक्ष में उनका एक बयान सामने रख रहा हूँ :

> "सूक्ष्म मानवीय संवेदनाएँ, किशोर हृदयों की धड़कनें, फूलों की नरम छुवन, चाँदनी रात की रूमानियत, बसन्त का खुमार, पतछड़ की उदासी, नारी-सौन्दर्य की पावन मंजुलता, सब कुछ कैसे खो गया ? ये तो शाश्वत उपादान हैं काव्य के, जो कभी नष्ट नहीं होते। पर कवि इनके पास जाने, इन्हें आत्मसात करने में हिचकने लगा। इनको परे धकेलकर उस छद्म बौद्धिकता, आधारहीन बड़बोलेपन और छूँछे शब्दजाल का सहारा लेने लगा, जो आलोचकों, विभिन्न वादों, साहित्यिक मठाधीशों की उद्घोषणाओं के अनुकूल पड़ते थे। परिणामतः सायास लिखी हुई कविताओं का ढेर लगता गया, पर कवित्व की मर्मस्पर्शिता, शिल्प का स्वतःस्फूर्त गठन, अनायास मन को छू जानेवाली आत्मीयता खोती गयी। आज कविता का पूरा दृश्य एक विराट रेगिस्तान-सा लगता है, जहाँ शब्दों की रेत उड़ती है; रेत के अनियंत्रित बवंडर में कहीं कोई पानी का ताज़ा सोता मिल जाये, किसी भटके बादल की छाँह मिल जाये, कहीं किसी प्यासी कोयल की कूक सुनने को मिल जाए, तो कितना सुकून मिलता है, कितना भरोसा होता है कि वादों-विवादों, घोषणाओं, फ़रमानों और छद्म बौद्धिक शब्दाडंबरों के बावजूद कविता टटकी, शुद्ध अनछुए कौमार्य की ताजगी लिये अभी जीवित है। मरी नहीं मरेगी भी नहीं।"

उनके संपादन में 'धर्मयुग' के पन्नों पर नवगीत के आरम्भिक दिनों में प्रसिद्ध हस्ताक्षरों की एक नयी शृंखला ससम्मान प्रकाशित होती रही थी, जिसमें उमाकान्त मालवीय से लेकर ओम प्रभाकर, नईम, नरेश सक्सेना, सोम ठाकुर तक सभी उपस्थित थे। डॉ. भारती जब तक जिये, अच्छे गीत के लिए खुले मन प्रशंसा भाव से जिये। उनके साथियों में जगदीश गुप्त नयी कविता के सबसे बड़े प्रवक्ता रहे हैं, मगर उन्होंने भी 'नयी कविता' के पहले अंक में ही शम्भुनाथ सिंह के गीत प्रकाशित किये। 'नयी कविता' में नामवर सिंह के छन्दों को स्थान दिया। मैं उन दिनों उनके निकट भी रह चुका हूँ और उनकी गीत सम्बन्धी मान्यता से अच्छी तरह परिचित होने के कारण कह सकता हूँ कि उनकी काव्य-दृष्टि कभी इतनी एकांगी नहीं रही कि वे गीत के विरोध में नयी कविता को स्थापित करते दीखें। उन्होंने ब्रजभाषा के छंदों से लेकर प्रसाद के 'आँसू-छन्द' तक अपनी प्रारम्भिक रचनाशीलता को सँवारा है। *आँसू* की तर्ज़ पर लिखा उनका एक छन्द दृष्टव्य है :

"शशि को पुतली में भरकर
जबसे हमने दृग मींचे,
कितने सागर लहराये
भीगी पलकों के नीचे।"

गीत-तत्त्व के प्रति उनकी आस्था की प्रमाण हैं उक्त पंक्तियाँ।

उनके काव्य संग्रहों—*नदी के पाँव, शब्ददंश* और *हिमविद्ध* में गीत समाहित हैं। उनका मानना है कि "दस-पाँच गीत ऐसे कोई जीवन भर में लिख जाए, जो लोककण्ठ में स्मरणीय हो जाएँ, तो यह किसी भी कवि के लिए कृतार्थता का आधार होगा।" ऐतराज़ उन्हें इस बात से है कि गीत ही सर्वोपरि है। ऐसे लोगों की ज़िद पर वे एक शे'र कह दिया करते हैं :

समझाये कौन बुलबुले ग़फ़लतशियार को
महदूद कर लिया है चमन तक बहार को।

गीत और नयी कविता के अन्तर्सम्बन्धों को रामदरश मिश्र ने भी रेखांकित किया है, जिससे उनको बख़ूबी समझा जा सकता है :—

"यदि नयी कविता गीत काव्य को नये बोध और नये बिम्बों की ओर झुकने के लिए प्रेरित करती है, तो गीत नयी कविता को अतिरिक्त बौद्धिकता और शुष्कता से उबारने में समर्थ है। इसीलिए मैंने नयी कविता और गीत दोनों को एक-दूसरे से प्रभावित करने की चेष्टा की है। लोक जीवन के नये-नये आयामों और लोक गीतों की शक्तिमत्ता, लयवादिता और भंगिमा को लेकर गीत लिखने के बहुत सफल प्रयोग इधर हुए हैं।"

नयी कविता के समर्थ कवियों में एक और नाम जोड़ लें—सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का। उन्होंने स्वयं अच्छे गीत लिखे और नयी कविता में गीत-तत्त्व को बड़े ही प्रभावशाली रूप में समाहित किया। उनकी एक रचना है :

"जब-जब सर उठाया
अपनी चौखट से टकराया

मस्तक पर लगी चोट। मन में उठी कचोट
अपनी ही भूलों पर मैं बार-बार पछताया।
दरवाज़े घट गये या मैं ही बड़ा हो गया
दर्द के क्षणों में कुछ समझ नहीं पाया।

शीश झुका आओ, बोला शहर का आसमान
शीश झुका आओ बोलीं भीतर की दीवारें।
दोनों ने ही मुझे छोटा करना चाहा
बुरा किया तुमने जो यह घर बनाया।
जब-जब सिर उठाया
अपनी चौखट से टकराया।"

सर्वेश्वर जी की यह रचना इस देश के लाखों गीत-प्रेमियों की ज़बान पर है। लेकिन जब बहसों के दौरान सर्वेश्वर जी को मैं गीत के विरोध में खड्गहस्त पाता, तो ताज्जुब से भर जाता था। जम्मू रेडियो के एक कवि सम्मेलन के दौरान कविवर सोम ठाकुर और उनके बीच एक ऐसी ही बहस का मैं साक्षी हूँ, जिसमें सर्वेश्वर जी ने जमकर गीत की 'अक्षमताओं' की फज़ीहत की। सुबह सोम ठाकुर ने सुना कि सर्वेश्वर जी अपने कमरे में कोई गीत गुनगुना रहे हैं। सोम ने फ़ौरन जाकर चुटकी ली; "सर्वेश्वर जी, रात भर में ही यह आपको क्या हो गया ? आप तो गीत गुनगुना रहे हैं ? और कल रात गीत पर आप कुठार चला रहे थे।" सर्वेश्वर जी ने मुस्कराते हुए कहा; "सोम, वह बौद्धिक बहस थी, यह गीत की प्रकृत शक्ति है। दोनों अपनी-अपनी जगह हैं और सही हैं।"

आलोचक बंधुओं की इसी कृपा से गीत की प्रकृत शक्ति की पहचान खो गयी और दोनों के बीच दरार बढ़ती गयी। कुछ आलोचकों ने तो इस दरार को खाई बना दिया। मेरा पाठकीय मन इस खाई को कभी स्वीकार करके नहीं चला और न ही मेरे रचनाकार ने ऐसे विभेद को कोई सैद्धान्तिक दीवार माना, बल्कि इसे हमेशा निरर्थक माना और उसी रूप में उसे पहचाना भी। अनुभव से कह सकता हूँ कि नयी कविता अपनी रूप-सज्जा के लिए, अपनी भाव-अन्विति के लिए जिस गली से गुज़रती रही है, ज़रूरी नहीं है कि उसी रुचि, उसी समझ और उसी बिम्ब योजना को गीत भी अपनाए, लेकिन परिवेश और समय-सापेक्ष स्थितियाँ, दोनों ही रचनाशीलता के उसी गंतव्य की ओर संकेत करती हैं, जिन्हें दोनों ही विधाओं का केन्द्र-बिन्दु कहा जा सकता है। यह स्थिति भाव जगत के लिए उतनी ही सच है, जितनी संघर्षशील वस्तु जगत के लिए। ऐसा करते हुए नयी कविता का समर्थ कवि एक नयी भाषा की रचना करता है और गीत का रचनाकार एक नये चित्र की सृष्टि कर रहा होता है। ठाकुर प्रसाद सिंह के शब्दों में कहूँ तो "यदि रघुवीर सहाय शहरों में रहनेवाले अत्यन्त सामान्य लोगों की भाषा के सहारे हिन्दी कविता की नयी भाषा बनाना चाहते हैं, तो उन्हें उसकी उतनी ही छूट है, जितनी ओम प्रभाकर को ग्वालियर की जन प्रकृति से शब्द और चित्र लेकर एक नयी चित्र-सृष्टि करने

की। लेकिन जब रघुवीर सहाय और ओम प्रभाकर एक-दूसरे को विरोधी मानने लगते हैं, तब चिन्ता उत्पन्न होती है।"

इस चिन्ता को ही आलोचकों ने नये आयाम दिये हैं। अपवादों को छोड़कर, अधिकांश आलोचकों ने हिन्दी गीत कविता की उपेक्षा की है। इस एकांगिता ने हिन्दी कविता को बड़ा नुक़सान पहुँचाया है। इस आलोचकीय उपेक्षा ने पिछले पचीस सालों की हिन्दी गीत कविता, बल्कि समूची छांदिक कविता को एक तरह से ख़ारिज कर रखा है। हिन्दी के इस आलोचक वर्ग ने गीत और अगीत कविता के बीच की दीवार में एक झरोखा छोड़ना भी मुनासिब नहीं माना कि उसमें से झाँककर यह देखा जा सकता कि इस दौरान गीत ही नहीं, ग़ज़ल, दोहे और घनाक्षरी तक में हिन्दी ने नयी भावभंगिमाएँ पेश की हैं। ग़ज़ल को ही लें—दुष्यन्त ने अपने एकमात्र ग़ज़ल-संग्रह *साये में धूप* से ग़ज़ल के कथ्य की सारी संरचना बदल दी और इस समय भी कुँवर बेचैन, शिव ओम अंबर, सूर्यभानु गुप्त, ज्ञानप्रकाश विवेक जैसे अनेक लोग उसमें नये रंग भर रहे हैं। इन रंगों के उदाहरणों से सैकड़ों पन्ने भरे जा सकते हैं।

दिनेश शुक्ल, कैलाश गौतम और यश मालवीय के दोहे पढ़ता हूँ, तो उनमें जीवन का राग, विराग, परम्परा, संस्कार, लोक-व्यवहार, मौसम और उसकी मार...सभी कुछ नये-नये बिम्बों में हिन्दी कविता की नयी समृद्धि का परिचय देते मिलते हैं। हाल ही में एक दोहा संग्रह आया है 'जैसे' शीर्षक से। कवि हैं हरे राम समीप। उसका एक एक दोहा प्रकृति और पुरुष के संबंधों को नापने का फीता है, सामाजिक चेतना का आईना है। उसका एक दोहा उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिसमें सामंती व्यवस्था बारीकी से गूँथी गयी है :

"क्यों रे दुखिया, क्या तुझे इतनी नहीं तमीज़
मुखिया के घर आ गया पहने नयी क़मीज़।"

दोहे ही नहीं, उदय प्रताप सिंह जैसे सुकवि आज भी कवित्त और सवैया जैसे पारम्परिक छन्दों में वर्तमान के कटु यथार्थ का सटीक चित्रण करते हैं; सोम ठाकुर, आत्मप्रकाश शुक्ल और ऐसे अनेक हिन्दी के रचनाकार घनाक्षरी को अपनी रचनाशीलता से समृद्ध कर रहे हैं; लेकिन हिन्दी आलोचना के आईने में इनका कोई बिम्ब कहीं दिखायी नहीं देता। गीत इसी एकांगिता का शिकार हुआ है।

O

हिन्दी आलोचना की इस अति ने आज के युवा गीत रचनाकारों में एक आक्रोशभरा विक्षोभ भी पैदा किया है। उस विक्षोभ का प्रतिनिधित्व शब्दों की तीव्रता के साथ देखना हो, तो यश मालवीय के शब्दों में देखिए, "रघुवीर सहाय निश्चित रूप से बड़े कवि हैं, लेकिन छन्द कविता का उदाहरण देते हुए बस अकेले कवि के रूप में याद किये जाएँ, यह अत्यंत अपरिपक्व सोच का परिचायक है।" यश मालवीय का कहना है, "शमशेर बहादुर सिंह को आप बिना शक़ याद कीजिए, मगर शम्भुनाथ सिंह को दूध की मक्खी की तरह निकाल फेंकने का हक़ आपको किसने दे दिया...आपको रमेशचंद्र शाह के यहाँ छन्द नज़र आता है, माहेश्वर तिवारी नज़र नहीं आते। आप अज्ञेय, नागार्जुन, भारती, विपिन कुमार अग्रवाल, श्रीकान्त वर्मा

के छन्द रेखांकित करें, पर शिवबहादुर सिंह भदौरिया, उमाकांत मालवीय, नईम, रमेश रंजक को नज़रअंदाज कर दें, यह कहाँ तक तर्कसंगत है ? ये वे कवि हैं, जिन्होंने छन्द में न केवल अभिनव प्रयोग किये हैं, वरन् कविता की आत्मा के साथ भी न्याय किया है।"

यह स्थिति बहुत कुछ तो इसलिए बनी कि गीत कविता को बिना पढ़े, बिना उस पर नज़र दौड़ाये उस पर फ़तवे दिये गये। इन फ़तवों की गोद में बैठने को लालायित अनेक गीत-कवियों ने भी ऐसे वक्तव्यों को हवा दी और उनके निष्कर्षों की हाँ में हाँ मिलाकर गीत कविता की मुख्यधारा से अपने को अलग करने की पुरज़ोर कोशिश की। जिनके प्राण गीतों में बसते थे, उन्होंने गीतों के रचनाकारों के बारे में न केवल चुप्पी साधी, बल्कि उनको अछूत बनाकर छोड़ने का उपक्रम किया। ऐसे रचनाकारों में नयी कविता के पक्षधर भी पाये जाते हैं और नयी कविता के बाद के कवि भी। लेकिन जब उनके सामने रवीन्द्र भ्रमर, वीरेन्द्र मिश्र, रमानाथ अवस्थी, बालस्वरूप राही, ताराप्रकाश जोशी, सोम ठाकुर, नरेश सक्सेना, नईम, बुद्धिनाथ मिश्र, माहेश्वर तिवारी, सत्यनारायण, शतदल, इंदिरा गौड़, किशन सरोज, श्रीकृष्ण तिवारी अथवा सूर्यभानु गुप्त जैसे तमाम कवियों की गीत पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं, तो वे चकित होकर उनकी प्रशंसा करने लगते हैं। इस सन्दर्भ में दूरदर्शन से प्रसारित एक पुराने कार्यक्रम की याद आ रही है, जिसमें एक आलोचक प्रवर ने सीधे यह जुमला उछाला था कि "अब हिन्दी में अच्छा गीत नहीं लिखा जा रहा।" संयोग से उस कार्यक्रम का एक भागीदार मैं भी था, जिसे नयी कविता के एक पक्षधर रचनाकार के रूप में याद किया गया था। मुझे यह कथन हिन्दी गीत कविता की समकालीन पुष्ट धारा की अवहेलना का पर्याय तो लगा ही, हिन्दी आलोचना की प्रचलित बदनीयती का पर्याय भी लगा और मैंने तत्काल दो-चार-पाँच समकालीन गीत अंश सामने रखकर उस कथन की निरर्थकता प्रमाणित की। मुझे ख़ुशी हुई कि न केवल आलोचक प्रवर ने, बल्कि अन्य भागीदारों ने भी मुक्त कण्ठ से उद्धृत गीत पंक्तियों की उत्कृष्टता को स्वीकार किया। गीत पंक्तियों में वीरेंद्र मिश्र की युद्धविरोधी गीत-पंक्ति थी :

"कंधों पर धरे हुए ख़ूनी यूरेनियम
हंसता है तम
युद्धों के मलबों से
उठते हैं प्रश्न
और गिरते हैं हम।"

तो माहेश्वर तिवारी की 'याद' भी थी :

"याद तुम्हारी जैसे कोई
कंचन कलश भरे
जैसे कोई किरन अकेली
पर्वत पार करे।"

विनोद निगम के एक गीत का मुखड़ा था, जो समकालीन जीवन की विषमताओं के बीच एक मध्यवर्गीय व्यक्ति की अन्तर्व्यथा को सीधे फ़ोकस में ले आता है। उसमें जीवनदायिनी धूप

और कठिनाइयों के अँधेरों का अनुपात देखें :

"मुट्ठी भर धूप,
दालान भर अँधेरे
यह ही बस पास बचा मेरे।"

बुद्धिनाथ मिश्र ने रागात्मकता की अभ्यर्थना जिस तरह मछेरे को सम्बोधित करते हुए की है, उसका सानी आसानी से मिलना मुश्किल है। बड़ी मशहूर पंक्ति है :

"एक बार और जाल फेंक रे मछेरे !
जाने किस मछली में बंधन की चाह हो।"

लेकिन ऐसी मशहूर पंक्तियाँ भी गीत के विरोध में डण्डा लेकर खड़े आलोचकों को दिखायी-सुनायी नहीं पड़तीं। बालस्वरूप राही जब कहते हैं :

"ग़लत परिस्थिति, ग़लत व्यवस्था
ग़लत जगह पर होकर
क्या कर लेगा तू
अपने हाथों में कील चुभोकर।"

तो मुझे उनके शब्दों में आज के दमघोंटू दफ़्तरी चक्रव्यूह में फँसे किसी साफ़-सुथरे चरित्रवाले व्यक्ति की खीझ को वाणी दी गयी लगती है। ऐसी वाणी जो असमर्थता के बीच भी व्यवस्था बदलने की ज़िद पाले बैठी है। ग़लत व्यवस्था के सलीब को अपने ही कन्धे पर ढोते हुए स्वयं ही उस पर बलि चढ़ाये गये व्यक्ति का मौन-आक्रोश इन पंक्तियों में पूरी तरह मुखर है। इसी माहौल को कुँअर बेचैन ने एक परिचित बिम्ब के सहारे अपना स्वर दिया है :

"जिस तरफ़ भी गयी दृष्टियाँ
दृश्य वे ही पुराने मिले।
ज़िन्दगी की कड़ी धूप में
काँच के शामियाने मिले।"

तथाकथित पारदर्शी लेकिन असल में प्रतिरोध करने पर लहूलुहान कर देनेवाले चिरपरिचित, मगर बेगाने सामाजिक माहौल का सटीक बिम्ब है इन पंक्तियों में। बहरहाल, ये तो चन्द उदाहरण थे। और भी ऐसे सैकड़ों हैं, जो अच्छा गीत नहीं लिखे जाने के फ़तवे के सन्दर्भ में सामने रखे जा सकते हैं।

लेकिन ऐसी पंक्तियाँ जिस सहजता से रचनाकार द्वारा कागज़ पर उतारी जाती हैं या पाठक के मन पर चढ़ती हैं, वह महादेवी जी के शब्दों में 'गीत की साधना का शीर्ष सोपान' है। हिन्दी में गीत और अगीत कविता दोनों के साधना सोपान के शीर्ष पर विराजे कवि केदारनाथ सिंह ने तो एक प्रकार से गीत को कविता का सबसे मुश्किल माध्यम माना है। रमानाथ अवस्थी ने जीवन भर गीत ही लिखना श्रेयस्कर माना, लेकिन हमेशा यह कहा कि "कोई कविता गाने भर से गीत नहीं हो जाती। गीत लिखना बड़ी मुश्किल चीज़ है।"

विद्यानिवास मिश्र ने गीत को उसकी व्यापकता में ही देखा है, "गीत वह है, जो पक्के

गाने के रूप में गया जा सके, वह भी है, जो लोकधुनों की कई मुरकियों की याद एक साथ दिला सके, वह भी है, जो फ़िल्मी तरानों के झटके दे सके, वह भी है, जो गाया न भी जा सके, तो खींच के बल पर क्रेंकार की तरह दूर तक पहुँचाया जा सके, वह भी है, जो खेलकूद क़वायद और अभियान के ताल में सहायक बन सके, वह भी है, जो टंक की तुकों की खूँटियों में कसकर बाँधा जा सके और वह है, जो हमारे समाचार-पत्रों में छपे तारिकाओं के चित्रों की तरह केवल शीर्षक से जाना जा सके कि हाँ, यह गीत ही है। अगर कोई सचमुच गीत की परिभाषा इन तमाम प्रकारों से सामान्य लक्षण निकालकर करना चाहे, तो उसे बड़ी मुश्किल हांगी।" वे मानते हैं कि अनुभव की बेसँभाल बेचैनी, खण्ड में समग्र को पानेवाली दृष्टि तथा इस सबको अपने भीतर की लय से जोड़ने की लीला का समाहित रूप गीत है "जिसमें समाधि शिथिल नहीं होनी चाहिए यह गीतात्मक वृत्ति की पहली शर्त है।"

इस तरह गीत को किसी निश्चित परिभाषा में कसना बहुत मुश्किल है। लेकिन अगर किसी परिभाषा में गीत को बाँधना ही चाहूँ, तो भारत के उद्भट विद्वान और विश्व साहित्य एवं कला परंपराओं के गहन अध्येता भगवतशरण उपाध्याय के शब्दों में कहना चाहूँगा कि "गीत कविता की वह विधा है, जिसमें स्वानुभूति प्रेरित भावावेश की आर्द्र और तरल आत्माभिव्यक्ति होती है।" इस आत्माभिव्यक्ति को विश्व भर के लोक जीवन में देखा जा सकता है। एक अफ्रीकी लोकगीत में पहली पंक्ति ही कहती है कि "यदि तुमसे कोई पूछे कि यह गीत किसने रचा, किसने गाया, तो कहना कि वह दुःख के नीले रंग में रँगा एक किसान था।"

असल में जन्म से लेकर मृत्यु तक भारत के जनजीवन में गीत की व्याप्ति गीत का प्रबलतम पक्ष है। उत्तर से लेकर दक्षिण तक और पूरब से पश्चिम तक हमारे इस विशाल देश का तो सारा जीवन ही गीतमय है। जन-जन के मन में बैटी हुई जीवन की व्याख्या ऋषियों मुनियों, विचारकों, दार्शनिकों, विद्वानों और सन्तों के वचनों से पुष्ट होती हुई समस्त जाति को गीतमय बना गयी है। पर्व-त्योहार. उत्सव...ये तो गाने के स्वाभाविक अवसर होते ही हैं, उनमें गाना और गीतमय हो जाना स्वाभाविक है, यहाँ तो कठिन परिश्रम से अपनी रोज़ी-रोटी कमाते और धान के खेतों में रोपाई करते हुए भी महिलाएँ गाती हैं।

भारतीय जनजीवन में समायी हुई इसी गीतमयता का परिणाम है कि पश्चिम ने जिसे 'लिरिक' कहा उस क्षेत्र में पहली और सफल विधागत गीतात्मक रचना भारत में कालिदास की मानी जाती है। *मेघदूत* का नायक यक्ष अपनी प्रिया को रामगिरि से जो संदेश भेजता है और जिस वाणी में भेजता है, उसे भगवतशरण उपाध्याय ने विश्व की पहली 'लिरिक' रचना माना है और कहा है, "लिरिक और भी लिखे गये, संसार के सभी साहित्यों में लिखे गये, पर इतना लंबा और इतना स्निग्ध, मर्महर, आर्द्र लिरिक कहीं नहीं लिखा गया।"

हिंदी में साहित्यिक कोटि में आनेवाले गीतों का प्रारंभ बच्चन जी ने विद्यापति से माना है। मन की सहज, सीधी और अकृत्रिम अभिव्यक्तियों से हिंदी गीत की आधार शिला रखी है विद्यापति ने। यह बात गीत की रचना प्रक्रिया से भी ताल्लुक़ रखती है।

गीत की रचना-प्रक्रिया पर दृष्टि डालते हुए केदारनाथ सिंह ने कहा है, "सब कुछ कह

लेने के बाद कवि के मन में जो एक भाषातीत गूँज बच जाती है, गीत की शुरुआत ठीक वहीं से होती है और उसकी सफलता इसी में है कि उस 'भाषातीत गूँज' को भाषा के सम्पर्क से कम-से-कम विकृत या दूषित किया जाए।" गीत को सहज सीधा और अकृत्रिम बनाना तभी सम्भव भी है। श्रेष्ठ गीत की यही सबसे बड़ी पहचान और उसकी आवश्यकता है। जिसे केदारनाथ सिंह 'भाषातीत गूँज' की संज्ञा देते हैं, उसे ही स्टीफ़ेन स्पेंडर ने 'अनुभव की तीव्र ऊर्जा की शब्द शून्यता' कहा। 'भाषातीत गूँज' के रूप में अनुभव की यह तीव्र ऊर्जा की शब्द-शून्यता कविता के अतिरिक्त चित्रकला और मूर्तिकला में भी अपनी गीतात्मक सरणियाँ बनाती दीख जाती है। पिकासो, मातीस, पॉल क्ली के चित्रों में आधुनिक युग की गीतात्मक अभिव्यक्तियाँ आसानी से देखी जा सकती हैं। इन गीतात्मक अभिव्यक्तियों की अपने यहाँ ही नहीं, पश्चिम में भी एक लम्बी परम्परा है, लेकिन इन अभिव्यक्तियों पर लगाये जानेवाले प्रश्न-चिह्नों की सरणि भी उतनी ही लम्बी है।

O

औद्योगिक जगत की आपाधापी, संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्वों की पश्चिमी दुनिया में भी यह सवाल उठाया जा चुका है, कि ऐसे में गीत, और गीत ही क्यों, समूची कविता की क्या भूमिका हो सकती है ? मशीन की धड़धड़ के बीच लायर के साथ गाये जाते 'लिरिक' का क्या सुर बैठ सकता है ?

कविता के अस्तित्व-मात्र को पश्चिम में दी गयी यह चुनौती जितनी दुर्धर्ष लगती थी, उतनी थी नहीं। उन्नीसवीं सदी का अंग्रेज़ी साहित्य का इतिहास साक्षी है कि उसकी कविता का स्वर्णिम युग-रोमांटिक युग—सन् 1798-1832 और विक्टोरियन युग—1832-1901 इसी औद्योगिक और वैज्ञानिक क्रान्ति के युग की देन हैं। विश्व भर की अधिकांश आधुनिक भाषाओं के साहित्य को प्रभावित करनेवाले राबर्ट बर्न्स, विलियम ब्लेक, विलियम वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, बायरन, पी.बी. शेली, जान कीट्स, अल्फ्रेड टेनीसन, राबर्ट ब्राउनिंग, मैथ्यू अर्नाल्ड, एलिज़ाबेथ ब्राउनिंग, क्रिस्टीना रोज़ेटी, स्विनबर्न जैसे महत्त्वपूर्ण रचनाकारों ने कविता की मानव-जीवन में अनिवार्य हिस्सेदारी की अपनी रचनाओं और बयानों के ज़रिये वकालत की और बताया कि यह करनेवाली उस समय की कविता मुख्यतः गीत कविता है।

औद्योगिक और वैज्ञानिक क्रान्ति तथा विकास और विश्वव्यापी साम्राज्यवादी हवस के विषफल के रूप में परिणति पाये दो-दो विश्व-युद्धों के दौरान भी बार-बार यह सवाल उठाया गया कि 'आज कविता की क्या ज़रूरत है ?' अंग्रेज़ समीक्षक ए. आर. लेविस ने *न्यू बेयरिंग्स इन इंग्लिश पोयट्री* में लिखा कि "आधुनिक जगत के लिए कविता बहुत कम मायने रखती है। यानी समकालीन बौद्धिकता कविता से बहुत कम सरोकार रखती है।" लेकिन 'गद्य का युग' कहलानेवाली बीसवीं सदी में भी अंग्रेज़ी साहित्य के विलियम बटलर येट्स, जेम्स जायस, डी.एच. लारेंस, रूपर्ट ब्रुक, थामस एलियट, रुडयार्ड किपलिंग, विल्फ्रेड ओवन, राबर्ट ग्रेव्स, विंस्टन आडेन, डायलन थामस जैसे महत्त्वपूर्ण रचनाकारों ने कविता के माध्यम से तत्कालीन युग की *संवेदनाओं को ऐसा साकार किया कि वह विश्वजनीन संवेदना बन गयी और क़रीब-क़रीब वैसी*

ही परिस्थितियों से गुज़रनेवाले अन्य देशों के, अन्य भाषा-भाषियों के अनुभवों को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए एक प्रेरक मॉडल बनी।

आधुनिक हिन्दी गीत की पारम्परिक सरणि की खोज में चलें, तो वस्तुतः उन्नीसवीं सदी पूरे विश्व के लिए क्रान्ति की सदी रही। विज्ञान और बुद्धिवाद ने सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों और मूल्यों को परखने की एक नयी दृष्टि दी। यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति, फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति और जनतान्त्रिक विचारधारा ने मानव-केन्द्रित चेतना का प्रसार किया। भारत में केवल व्यापार की दृष्टि से आये अंग्रेज़ धीरे-धीरे शासक बनते चले गये और फिर मध्ययुगीन सामन्तवादी मूल्यों से मुक्त करवानेवाले 'इतिहास के औज़ार' बनने लगे। यूरोपीय और भारतीय संस्कृति के संयोग से भारतीय समाज में एक नवीन चेतना का उन्मेष हुआ। बंगाल भारत में सांस्कृतिक नवजागरण का अग्रदूत बना। राजा राममोहन राय द्वारा सन् 1828 में 'ब्राह्म समाज' की स्थापना इस अभिनव चेतना का सूचक ऐतिहासिक क़दम था। राष्ट्रीय आत्मचेतना के जागरण, पुरातन अवधारणाओं और मान्यताओं के भंजन और नये आदर्शों के अन्वेषण की युगांतरकारी गतिविधियों ने समाज के सभी अंगों को प्रभावित किया और साहित्य ने अपनी समग्र पारम्परिक और अभिनव विधाओं—कविता, नाटक, उपन्यास एवं निबन्ध के माध्यम से इस प्रक्रिया में योगदान किया।

आधुनिक हिन्दी कविता का उद्‌गम उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के संगम-बिन्दु पर हुआ। तब से लेकर आज तक कविता को अनेक आन्तरिक और बाह्य संघर्षों से गुज़रना पड़ा है, आरोपों-प्रत्यारोपों का सामना करना पड़ा है और अपने अस्तित्व के औचित्य को बार-बार सिद्ध करना पड़ा है। यह गर्व के साथ कहा जा सकता है कि इस समग्र संघर्ष के दौरान कविता कभी-कभी शिथिल और कभी-कभी घायल भी हुई है, लेकिन पराजित कभी नहीं हुई। उसने पलायन कभी नहीं किया है।

आधुनिक हिन्दी गीत और गीत-परम्परा के इतिहास की चर्चा को आगे बढ़ाने से पूर्व 'गीत' अभिधान पर थोड़ा-सा ग़ौर और कर लेना उचित होगा। 'मुक्तक' के एक प्रभेद के रूप में 'गीत' शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से चला आ रहा है। भरतमुनि के *नाट्यशास्त्र* में और *अमरकोश* में इसका उल्लेख है। आधुनिक युग में जिस भावबोध और शैली के गीत लिखे गये, वे सीधे भारतीय गीत-परम्परा से यानी वैदिक साम गीतों, बौद्ध थेरी गाथाओं, सिद्धों के चर्यापदों और सन्तों-भक्तों की पदावलियों से अनुप्रेरित नहीं हैं। आधुनिक गीतों का जन्म, भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण के युग में पश्चिमी अंग्रेज़ी साहित्य के प्रभाव से उद्‌भूत स्वच्छंदतावाद—रोमांटिसिज़्म—से हुआ है। उसके निर्माण में विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विराट व्यक्तित्व, विश्वजनीन मानवतावादी दृष्टि और उसको अभिव्यक्त करने के लिए नवनिर्मित भाषा, शब्दावली, गीत-प्रणाली और संगीत-पद्धति का अमूल्य योगदान है। आधुनिक गीत सीधे-सीधे प्राचीन गीतों के उत्तराधिकारी नहीं हैं। उनका सम्बन्ध अंग्रेज़ी के 'लिरिक' से ज़्यादा जुड़ता है। इसीलिए आधुनिक गीतों को 'गीति' या 'प्रगीत' काव्य कहने की परम्परा है। यूनानी लिरिक से विकसित और परिवर्तित होते हुए अंग्रेज़ी साहित्य में चौदहवीं सदी के अन्त और पन्द्रहवीं

सदी के अन्तिम चरण में उसका प्रादुर्भाव माना जाता है। आरम्भिक तीन-चार सदियों तक तो अंग्रेज़ी के समीक्षकों ने भी उसे कोई ख़ास महत्त्व नहीं दिया। लेकिन अठारहवीं सदी के अन्त तक गीतों पर पर्याप्त चर्चा होने लगी और उन्नीसवीं सदी के रोमांटिक-काल में वह सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य-विधा रही। यूनान में 'लायर' वाद्ययंत्र के साथ गाये जाते पदों के रूप में 'लिरिक' नाम प्राप्त इस काव्य-विधा ने अपने विकास-क्रम में प्रत्यक्ष संगीतात्मकता को पीछे छोड़ दिया। गेयता अब उसका प्रधान लक्षण नहीं रह गया, लेकिन शब्दों के अन्तर्निहित ध्वनि-संगीत को सबसे ज़्यादा महत्त्व इस विधा में दिया जाता रहा। गीत में वैयक्तिकता और आत्मनिष्ठता, तीव्र भावापन्नता और इसलिए संक्षिप्तता और संगीतात्मकता के गुण होते हैं। प्रख्यात पाश्चात्य समालोचक ब्रूनेतियर ने कहा है, "गीत में कवि भावानुकूल लयों में अपनी आत्मनिष्ठ वैयक्तिक भावना व्यक्त करता है।" रस्किन ने कहा, "गीत कवि की निजी भावनाओं का प्रकाश होता है। सहज शुद्ध भाव, स्वच्छंद कल्पना, तर्कवाद और न्यायमूलकता से मुक्त विचार, ये ही उसकी वास्तविक विशेषताएँ हैं।" गीत के तर्कवाद और न्यायमूलकता से मुक्त होने का तात्पर्य इतना ही लेना चाहिए कि साहित्य के निबन्ध, प्रबन्ध, उपन्यास आदि विधाओं की तुलना में गीत-विधा में ज़्यादा रागात्मकता होती है, क्योंकि विशुद्ध बौद्धिकता गीत की दुश्मन बन जाती है। लेकिन युग-परिवर्तन के साथ राग-जगत में भी परिवर्तन होता है और गीत केवल आत्मकेन्द्रित संवेगों की स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्ति मात्र नहीं रह जाता और युगबोध की अभिव्यक्ति के लिए बौद्धिकता का भी प्रश्रय लेना पड़ता है। ध्यान इस वात का रखना होता है कि चिन्तन और तर्क की जटिलता और बहुलता से गीत की अन्विति खण्डित न हो जाए।

अंग्रेज़ी 'लिरिक' को 'गीत' या 'प्रगीत' कहकर 'लिरिक पोयट्री' को 'गीत-काव्य' या 'प्रगीत-काव्य' कहने की परम्परा हिन्दी समीक्षा में है और यह कहा जाता है कि पारम्परिक 'गीत' शब्द को अब केवल 'सांग' के अर्थ में प्रयुक्त किया जाना चाहिए। इस संदर्भ में मेरा निवेदन यह है कि केवल विधा के रूप में 'गीति' या 'प्रगीत' जैसे अभिधानों का प्रयोग कर, बाक़ी समीक्षा के लिए जब 'गीत' ही शब्द का इस्तेमाल होता है और आधुनिक गीत के विकास क्रम में अधुनातन सोपान को 'नव-गीत' भी कहा जा रहा है, तो फिर 'लिरिक' के रूप में पारम्परिक 'गीत' शब्द का प्रयोग सर्वथा अनुचित नहीं है। वैसे मैंने अभिधात्मक विभेदों को ज़्यादा महत्त्व न देकर गीत के व्यापक विधान को ही ध्यान में रखा है।

o

गीत को ऐतिहासिक पटल पर परखने के लिए हमें भारतेन्दु युग में भी जाना होगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-1885) आधुनिक हिन्दी जगत के नवजागरण काल के विचित्र वैतालिक हैं। मोटे तौर पर सन् 1850 से 1900 तक के साहित्येतिहास के कालखंड को भारतेन्दु युग कहा जाता है। भारतेन्दु ने युग की आवश्यकताओं और समस्याओं के अनुरूप कविता का भी पुनः संस्कार और पुनरुद्धार किया। मध्ययुगीन भक्ति-संस्कारों से ओत-प्रोत होते हुए और ब्रजभाषा में ही काव्य-रचना को सुकर और सुलभ मानते हुए भी उन्होंने गीतों को नये कथ्य प्रदान किये, नये शिल्प में ढाला और खड़ी बोली जैसी काव्य के लिए तब तक अप्रयुक्त भाषा

का इस्तेमाल करने के ऐतिहासिक प्रयास किये। भारतेन्दु ने सबसे पहले अपने नाटकों—*विद्यासुन्दर, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चन्द्र, कर्पूर मंजरी, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, दुर्लभबन्धु, सतीप्रताप* और *भारत जननी* में गीतों की रचना की। इन गीतों की विशेषता यह है कि इनमें भक्तिकालीन पद-शैली से भिन्न स्वतन्त्र शैली है और साथ ही लोकगीतों का भी मिश्रण है। विषय के अनुसार भाषा और छन्दों का चुनाव करने का प्रयास है, इसीलिए एक ओर उर्दू की ग़ज़लें हैं, ख्याल और लावनियाँ हैं, तो दूसरी ओर संस्कृत के स्तोत्र भी हैं। लगा कि जैसे भारतेन्दु युग में कविता और जीवन का पहली बार परस्पर सीधा साक्षात्कार हुआ। भारतेन्दु ने कजली, होली, बारहमासा, चैता, सेहरा, गाली, खेमटा, दादरा, कबीर जैसे लोकगीतों की शैलियों को अपनाया और अपनी कविता को जन-संस्पर्श करवाया। भारतेन्दु मंडल के प्रायः सभी कवि उर्दू में भी भिन्न उपनामों से कविता रचा करते थे, इसलिए हिन्दी में भी ग़ज़ल, लावनी और ख्यालों की रचना के उन्होंने सफल प्रयोग किये। यह युग खड़ी बोली हिन्दी में गद्य के आविर्भाव का और पद्य में भी पारम्परिक भाषा के स्थान पर आधुनिक भाषा को स्थापित करने की छटपटाहट का काल था। ऐसा लग रहा था कि कवि का सिर तो आधुनिक युग में उठा हुआ था, लेकिन पाँव अभी मध्य काल में ही रोपे हुए थे। कवि की लेखनी अभी ब्रजभाषा में ही सुविध-सुकरता का अनुभव करती थी। कृष्ण भक्ति साहित्य की भ्रमर-गीत परम्परा की एक उत्कृष्टतम रचना जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का *उद्धव-शतक* इसी युग की देन है।

सन् 1903 में 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादकत्व महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864-1938) ने ग्रहण किया और खड़ी बोली का परिष्कार करने का ऐतिहासिक कार्य प्रारम्भ किया। उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से कवियों एवं लेखकों का एक उत्साही, कर्मठ वर्ग तैयार हुआ, इसीलिए 1903 से लगभग 1920 तक के कालखंड को 'द्विवेदी-युग' कहा जाता है। श्रीधर पाठक, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', गोपालशरण सिंह, मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम प्रेमी, रूपनारायण पाण्डेय, मुकुटधर पाण्डेय, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि इस युग-भावना के उल्लेखनीय कवि हैं।

द्विवेदी युग, राष्ट्रीय भावना और समष्टि-चेतना के विकास का युग था। हिन्दीभाषी प्रदेश में आर्य समाज के राष्ट्रवादी, सुधारवादी आन्दोलन का प्रभाव छा रहा था और साहित्यकारों ने भी राष्ट्रीय अस्मिता के जागरण में अपनी लेखनी से योगदान किया। द्विवेदी युग में प्रधानता इतिवृत्तात्मक काव्य की रही, लेकिन सन् 1910 के आसपास से ही असन्तोष और परिवर्तन के चिह्न प्रकट होने लगे थे। यों इस युग में श्रीधर पाठक और मैथिलीशरण गुप्त का योगदान ही उल्लेखनीय है। श्रीधर पाठक उदार काव्य-रसिक और प्रकृति के उपासक थे। उन्होंने देश-प्रेम और भारत-भक्ति के गौरवपूर्ण सरस गीत लिखे, अनेक अभियान-गीत (मार्चिंग सौंग) भी लिखे और प्रकृति के सहज मनोरम चित्र भी उकेरे। अंग्रेज़ी कविताओं के बड़े सुन्दर हिन्दी भावानुवादों का श्रेय भी उन्हें दिया जाता है। ओलिवर गोल्डस्मिथ के तीन काव्य ग्रन्थों का अनुवाद *एकांतवासी योगी, ऊजड़ ग्राम* और *श्रांत पथिक* शीर्षकों से उन्होंने किया। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने भारतीय संस्कृति, राष्ट्रीय जागरण और मानव-सेवा की उदात्त भावनाओं को पौराणिक एवं

ऐतिहासिक आख्यानों के माध्यम से अपने महाकाव्य और खण्डकाव्य में प्रतिष्ठापित किया। अपने प्रारम्भिक रचना-काल में गुप्त जी का काव्य नितान्त स्थूल और इतिवृत्तात्मक रहा, लेकिन बाद में उन्होंने स्वतंत्र रूप से अपने खंडकाव्यों और महाकाव्य में गीतों का समावेश किया, जो अपने साहित्यिक संदर्भों में श्लाघनीय है। उनकी *भारत-भारती* का विनय गीत *'इस देश को हे दीनबंधो, आप फिर अपनाइए'* उनका पहला लोकप्रिय गीत है, जो सन् 1912 में लिखा गया था। खड़ी बोली का स्वाभाविक और साहित्यिक रूप गुप्त जी के गीतों में पाया जाता है। मुकुटधर पाण्डेय, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' जैसे सहृदय कवियों ने द्विवेदीयुगीन वर्णनात्मकता और इतिवृत्तात्मकता से परे जाकर काव्य-भाषा और काव्य-शैलियों के प्रयोग और परिष्कार ज़रूर किये, लेकिन उनकी आत्मा मुख्यतः द्विवेदीयुगीन संस्कारों से युक्त रही। कविता का भाषा और भाव का आत्मसंघर्ष इस काल में तीव्रतर हो गया और हिन्दी साहित्य में सम्भवतः पहली बार ऐसा अवसर आया, जबकि रचनाकार और समीक्षक आमने-सामने दो पालियों में खड़े हो गये। प्राचीनकाल में शायद ऐसी ही परिस्थितियों में *उत्तररामचरित* रचयिता भवभूति ने कहा था, "मेरा कोई-न-कोई समानधर्मा उत्पन्न हो ही जाएगा, आख़िरकार काल निरवधि है और पृथ्वी विपुला है।" इस युग का कवि लेकिन उतनी लम्बी प्रतीक्षा नहीं कर सकता था, उसे तो अभी, यहीं पहचान, समर्थन और सराहना की ज़रूरत थी, सो उसे ख़ुद ही मुद्दई और ख़ुद ही पैरोकार बनना पड़ा। कालान्तर में, हिन्दी कविता विशेषकर हिन्दी गीत का स्वर्णयुग कहलानेवाला और कविता की मूल्यवत्ता और विपुलता में मध्ययुगीन भक्तिकाल के समकक्ष खड़ा रहनेवाला छायावादी युग युवा रचनाकारों के असन्तोष, परिवर्तनकामिता और विद्रोह का परिणाम बनकर उभरा। छायावाद के एक प्रमुख कवि सुमित्रानंदन पंत के शब्दों में, "छायावाद का जन्म ही विद्रोह में है—यह विद्रोह भावनाओं और विचारों में भी है और शैली एवं कला में भी।"

O

छायावाद ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राम के विकास-मार्ग में आते अवरोधों, विरोधाभासों को प्रतिबिम्बित किया, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कथ्य, भाषा, शिल्प एवं दर्शन के कई विधायी तत्त्वों को आत्मसात और अंगीकार किया और अंग्रेज़ी कविता के उन्नीसवीं सदी के रोमांटिक युग के कवियों के व्यक्तिवाद, स्वच्छन्दतावाद, कल्पना की विराट उड़ान जैसे तत्त्वों को भी अपनाया। छायावाद के आधार स्तम्भ कहे जानेवाले जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा में व्यापक मानवतावाद, चतुर्दिक् व्याप्त क्रूर यथार्थ से पलायन की प्रवृत्ति, किसी सुदूर पर्वतशृंग पर पहुँचकर अन्तरिक्ष में ज्ञान, कर्म और भावना का संगम कराने की परिकल्पना और साथ ही अपना एक मानसिक विश्व रचकर उसमें विश्व पीड़ा का भोक्ता बनने का दर्शन पाया जाता है। छायावादी कवियों ने प्रकृति सौन्दर्य को पारम्परिक बारहमासा और षड्ऋतु वर्णन के चौखटे से मुक्ति दिलायी और पहली बार हिन्दी साहित्य में प्रकृति उसी प्रकार से मानव की सखी, सहचरी बनी, जैसे वह सुदूर अतीत में संस्कृत के कवियों की हुआ करती थी। छायावादी कवियों की एक और प्रमुख विशेषता 'नारी' को भक्तियुगीन 'ठगिनी' और रीतियुगीन 'अभिसारिका' की चिरपरिचित भूमिका से हटाकर एक संगिनी, एक

प्राणदायिनी शक्ति-केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठापित करने की प्रवृत्ति भी थी। छायावादी कवि की सबसे बड़ी विशेषता यह भी थी कि उसने 'मैं' शैली अपनायी। तीव्र संवेदनशीलता, जीवन के प्रति रागात्मक रुझान और आत्माभिव्यंजना की छटपटाहट ने छायावादी कवियों को जैसे बाध्य कर दिया कि वे कविता की गीत शैली को ही अपनी भावनाओं का वाहक बनाएँ।

सामान्यतः सन् 1920 से 1936 तक के साहित्यिक काल खण्ड को छायावादी युग कहा जाता है। इस युग को हिन्दी गीत का स्वर्ण युग भी माना जाता है, क्योंकि गीत विधा इस युग में प्रौढ़ता को प्राप्त हुई। प्रायः सभी कवियों ने गीत विधा को अपनी अनुभूतियों की अभिव्यंजना का माध्यम बनाया। छायावादी कला आत्माभिव्यंजक रही और शिल्प गीतात्मक। छायावादी गीत-आन्दोलन एक व्यापक साहित्यिक आन्दोलन रहा और क्या विचार, क्या दर्शन, क्या शैली और क्या भाषा, इन सभी में जैसे सम्पूर्ण युग अपने पूर्ववर्ती युग से अत्यन्त विशिष्ट और अनूठा हो उठा। छायावादी कवियों की एक उल्लेखनीय देन विषयाभिव्यक्ति के लिए एक नयी भाषा, एक नयी बिम्ब योजना, एक नया प्रतीक-विधान खड़ा करना भी था। सुमित्रानन्दन पन्त छायावादी गीतों में प्रयुक्त भाषा के एक महत्त्वपूर्ण शिल्पी और समीक्षक रहे। उनके शब्दों में कहा जाए तो "छायावाद सामाजिक ढाँचे के बासी सौन्दर्य से ऊबकर प्रकृति की ओर मुड़ा और वहाँ से नया सौन्दर्य वैभव संचित कर कला को सौरभ मण्डित तथा भावना जगत् को सद्यः प्रस्फुटित कर सका। बोध की दृष्टि से छायावादी कवि का व्यक्ति नये मूल्य का प्रतीक, नये मूल्य का अंश था। उसकी व्यक्तिनिष्ठ शैली में आत्मीयता अथवा निजता का स्पर्श था। उसने परिस्थितियों की कारा में बन्द उस युग के मन पर अनायास ही नयी भाव-वस्तु का जीवन-चेतन-सौन्दर्य उतार दिया।...उसने अतीतोन्मुखी यथार्थ की पीठिका के ऊपर भविष्य की कल्पना के सत्य को, सामन्ती ढाँचे के बाहरी रूप-विधान की जड़ता के ऊपर अन्तःसौन्दर्य के सजीव संकेत-वैभव को तथा पिटी-पिटाई परम्परागत काव्यशास्त्रीय छन्द-रस-अलंकार पद्धति के ऊपर स्वतन्त्र रस-साधना से प्रसूत नवनवोन्मेषी कलाबोध की प्रतिष्ठा की।...छायावाद के उद्भव को मैं मानव-जीवन की समृद्धि के लिए एक अनिवार्य ऐतिहासिक आवश्यकता मानता हूँ।"

सुमित्रानन्दन पन्त के लिए हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि "उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व गीतिमय है, वे मूलतः गीतिकाव्य के कवि हैं।" पन्त जी की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उन्होंने युग की धारा को पहचाना और यह भी जान लिया कि एक विशिष्ट युग का अन्त हो रहा है और एक नये युग के अवतरण के लिए स्वयं मानव को मानसिक एवं वैचारिक रूप से सन्नद्ध होना पड़ेगा। उनमें युग-चेतना के बदलते हुए मानों को चित्रित करने की अद्भुत क्षमता रही। पन्त जी इस अर्थ में प्रगतिवाद के दरवाज़े पर भी दस्तक देते दिखाई देते हैं। मानवीय अस्मिता वहाँ उनका अभिप्रेत है। भाषा देखें तो पन्त ने भारतेन्दुयुगीन अटपटी ब्रज-भाषा मिश्रित खड़ी बोली और द्विवेदीयुगीन दक्ष-रुक्ष आदर्शमय अध्यापकीय खड़ी बोली को एक नया शब्द-भण्डार, एक नयी छन्दमयता, एक नयी अर्थवत्ता प्रदान करने में ऐतिहासिक योगदान किया। कविता, कविता की भाषा, कविता के लक्ष्य के बारे में सुव्यवस्थित, सुविचारित सिद्धान्तों के प्रस्तुतीकरण का श्रेय, छायावादी कवियों में पन्त को ही जाता है। पन्त को 'प्रकृति का सुकुमार

कवि' भी कहा जाता रहा और प्रकृति-प्रेम और कैशोर्य-प्रेम की चित्रात्मक अभिव्यक्ति की वजह से हिन्दी गीतों का 'वड्र्सवर्थ' भी। पन्त के गीत सहज आत्मानुभूति की निर्मिति हैं और प्रकृति उनमें कभी सजीव पृष्ठभूमि, तो कभी जीवन्त सहचारी के रूप में साथ-साथ चलती है :

"ज्यों मधुवन में गूँजते भ्रमर
ज्यों आम्रकुंज में पिकी मुखर,
मेरी उर-तन्त्री से रह-रह
फूटते मधुर गीतों के स्वर !"

O

जयशंकर प्रसाद (1890-1936) को सामान्यतः छायावाद का सर्वप्रथम प्रमुख रचनाकार माना जाता है, लेकिन मैं इस निष्कर्षात्मक दायरे में अपने को न डालकर कहना यह चाहता हूँ कि प्रसाद का स्थान इसलिए भी विशेष महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि उन्होंने स्वतन्त्र गीत तो लिखे ही, साथ ही, अपने नाटकों में भी गीतों का समावेश किया, जो नाटकों के सन्दर्भ में सर्वथा उपयुक्त होते हुए अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी रखते हैं। प्रसाद ने हिन्दी साहित्य को *कामायनी* जैसा महाकाव्य प्रदान किया, जो आज तक अतुलनीय एवं अप्रतिम है। हालाँकि कुछ समीक्षकों ने *कामायनी* को एक सुदीर्घ कविता कहा है, क्योंकि महाकाव्य की प्रबंधात्मकता का उसमें अभाव है। लेकिन अधिकांशतः मान्यता यही है कि *कामायनी* को पारम्परिक प्रबन्ध काव्य की कसौटी पर न कसते हुए उसे आधुनिक संवेदनाओं, भाव-बोध और मानव के चिरन्तन संघर्ष और अन्तर्द्वन्द की कथा कहनेवाला, विराट फलकवाला महती काव्य मानना चाहिए। 'प्रसाद' की *झरना, आँसू, लहर*—काव्य कृतियों में छायावाद की सभी विशिष्टताओं की झलक मिलती है। प्रकृति के मानवीकरण, चित्रमयता और संगीतात्मकता से सम्पन्न अनेक सुन्दर गीत उनकी रचनाओं में प्राप्त होते हैं; एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा :—

"उठ-उठ री ! लघु-लघु लोल लहर !
उठ-उठ गिर-गिर फिर-फिर आती
नर्तित पद-चिह्न बना जाती
सिकता में रेखाएँ उभार !
भर जाती अपनी तरल सिहर।"

हिन्दी साहित्य में प्रसाद के समूचे अवदान को दृष्टि में रखकर यह बात भी कहना चाहता हूँ कि इतिहास में उन्हें जो स्थान दिया जाना चाहिए, वह उन्हें नहीं मिला। उनके नाटक, उनकी कहानियाँ, उनके उपन्यास, उनकी भाषा, उनके बिम्ब, उनकी रागात्मक उदात्तता और उसकी ऐकांतिक भावनात्मक निष्ठा... इन सभी का सम्यक् आकलन करने पर प्रसाद मुझे अपने समकालीनों में एक अनूठे स्थान के हक़दार लगते हैं। लगता है प्रसाद का पूरा मूल्यांकन अभी शेष है। गीत के सन्दर्भ में भी मुझे हमेशा से ऐसा प्रतीत होता रहा है कि हिन्दी गीत-साहित्य में जयशंकर प्रसाद को जो महत्त्वपूर्ण शीर्ष स्थान मिलना चाहिए था, जो उनका अर्जित प्राप्तव्य था, वह उन्हें नहीं मिल पाया। ऐसा लगता है कि *कामायनी* के महाकाव्यत्व के हिमगिरि के

उत्तुंग शिखर के समक्ष उनके गीतकार की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया। प्रसाद में उच्चकोटि की गीतात्मक प्रतिभा थी और कलात्मक गीतों की इतनी विपुल रचना करनेवाले वे खड़ी बोली के प्रथम श्रेष्ठ कवि हैं। प्रसाद के *झरना* और *लहर* काव्य-संग्रह में आधुनिक हिन्दी गीत काव्य का प्रारम्भिक इतिहास छिपा है। *झरना* की अधिकांश रचनाएँ सन 1916 और 1919 के बीच लिखी गयी थीं और उनमें आत्मचेतना की प्रबलता, आन्तरिक भावों का चित्रण, वैयक्तिक जीवन की घटनाओं की अनुगूँज और आत्मा का विस्तार है। विश्वव्यापी रागात्मकता और सौन्दर्य पर सुधारवादी आदर्शों के अवगुंठन को सबसे पहले विद्रोही प्रसाद ने दूर हटाया। वैयक्तिक प्रेम का मांसल-वर्णन भी उन्होंने खुलकर किया :

"आह रे वह अधीर यौवन !
अधर में अधरों का विश्वास,
नयन में दर्शन का विश्वास,
धमनियों में आलिंगनमयी—
वेदना लिए व्यथाएँ नयी,
टूटते जिससे सब बंधन..."

और साथ ही वे सांस्कृतिक जागरूकता के भी वैतालिक यह कहकर बने :

"बीती विभावरी जाग री !
अंबर पनघट में डुबो रही
तारा-घट ऊषा-नागरी।"

जयशंकर प्रसाद के गीतों की प्रभावात्मकता, विविधता और भाषा तथा शिल्प की नवनवोन्मेषिनी प्रतिभा को ध्यान में रखकर ही महाकवि निराला ने लिखा, "खड़ी बोली में नये गीतों के भी प्रथम सृष्टिकर्ता प्रसाद जी हैं।"

O

गीतप्रधान छायावादी युग की सम्पूर्णता और आजीवन उसका श्रेष्ठतम प्रतिनिधि बने रहने का श्रेय महीयसी महादेवी वर्मा (1900-1987) को प्राप्त है। *नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्यगीत, दीपशिखा* उनके महत्त्वपूर्ण काव्य संग्रह हैं। अनुभूति की उत्कर्षता और कलात्मक मनोरमता की दृष्टि से आज भी हिन्दी कवयित्रियों में महादेवी उच्चतम शिखर पर हैं। व्यक्तिगत जीवन की स्थितियों ने, बौद्ध और वेदान्त दर्शन के अध्ययन ने और तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण ने महादेवी के गीतों को एक अपूर्व गरिमा और गौरव से सम्पन्न किया है। सुमित्रानन्दन पन्त की मान्यता है कि, "छायावादियों में महादेवी ही एकमात्र वह भाव-यौवना कवयित्री हैं, जिन्होंने नये युग के परिप्रेक्ष्य में राग-तत्त्व के गूढ़ संवेदन तथा रागमूल्य को अधिक मर्मस्पर्शी, गम्भीर अन्तर्मुखी, तीव्र संवेदनात्मक अभिव्यक्ति दी है जिसका कारण...स्पष्टतः उनका नारी व्यक्तित्व है।...निश्चय ही यह व्यावहारिक यथार्थ जगत् के प्रति कर्तव्यनिष्ठ महादेवी का रूप नहीं है—यह उनके सूक्ष्म अन्तर्जगत के चेतन, उपचेतन, सूक्ष्म-चेतन स्तरों में व्याप्त उस चिरंतन भारतीय नारी, उस आनेवाली विश्व-नारी का रूप है, उस अजेय राग-तत्त्व की अंतस्तप्त,

स्वप्न-सौन्दर्य-भूषित, विरह-दग्ध, तपःशुभ्र, सूक्ष्म-सूक्ष्मतम परमाणुओं से निर्मित विराट् प्रतिमा का रूप है, जो विश्व की या सृष्टि की प्राण-पीठिका पर अनादि काल से प्रतिष्ठित है।"

महादेवी जी ने अपने जीवन में और अपने काव्य में एक विशिष्ट जीवन दर्शन उतारा है, जो सान्त और अनन्त, प्रत्यक्ष और अदृश्य, क्षणभंगुर और चिरंजीवी का भव्य मिश्रण है और उसी आस्था ने उनके गीतों को कालजयी बना दिया है। उनकी मान्यता रही कि, "माता जिस प्रकार आस्था के बिना अपने रक्त से सन्तान का सृजन नहीं कर सकती, धरती जिस प्रकार ऋतु के बिना अंकुर को विकास नहीं दे सकती, साहित्यकार भी उसी प्रकार गम्भीर विश्वास के बिना अपने जीवन को अपने सृजन में अवतार नहीं दे सकता।"

महादेवी के समग्र रचना-काल में दर्शन या विचार-प्रणाली की दृष्टि से सोपानगत विकास या परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। उनकी स्थिर गतिमयता और गीतमय रचनात्मकता ही विविध रंगों में उनके गीतों में झलकती रही है;

"वीणा होगी मूक, बजानेवाला होगा अन्तर्धान
विस्मृति के चरणों पर आकर लोटेंगे सौ-सौ निर्वाण
जब असीम से हो जाएगा मेरी लघु सीमा का मेल,
देखोगे तुम देव ! अमरता खेलेगी मिटने का खेल।"

"पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने को अकेला!
अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते, दे शूल को संकल्प सारे,
दृढ़वती निर्माण उन्मद, यह अमरता नापते पद,
बाँध देंगे अंक-संसृति से तिमिर में स्वर्ण बेला
... प्राण रहने दो अकेला।"

गीत की समस्त विशिष्टताएँ—भावान्विति, प्रभाव की तीव्रता और गेयता तथा संक्षिप्तता—महादेवी जी के गीतों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। चित्रात्मक भाषा, कोमल पदावली और सहज स्वाभाविक छन्द-विधान का जैसा अनुपम, अनवरत संगम महादेवी जी के गीतों में हुआ है, वैसा हिन्दी साहित्य के आधुनिक गीतों के इतिहास में दुर्लभ-सा है।

O

महाप्राण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' एक ऐसे विराट व्यक्तित्व हैं, जो हिन्दी कविता में गीत-काव्य के अनेकानेक युगों और धाराओं के बीच खड़े हैं, कहीं उसके मूल विचारक के रूप में, कहीं उसके प्रमुख प्रेरक के रूप में, तो कहीं उसके मूल शिल्पी के रूप में। आधुनिक हिन्दी गीत-काव्य के क्षेत्र में प्रयोग और उपलब्धि की दृष्टि से निराला का स्थान आज तक अनन्य ही रहा है। रहस्यवाद, छायावाद, प्रयोगवाद, नयी कविता एवं नवगीत—सभी काव्य धाराओं में निराला के अवदान को स्वीकार किये बग़ैर उनका इतिहास पूरा नहीं हो पाता।

निराला ने गीतों के कथ्य में प्रयोग किये, शिल्प में प्रयोग किये, प्रस्तुतीकरण में प्रयोग किये। उनके गीतों में प्रेम-लालसा है, सौन्दर्य-पिपासा है, परमसत्ता के चरणों में शरणागति है, राष्ट्र-

प्रेम है और सबसे बढ़कर है, मानव-मात्र के प्रति स्नेह और करुणा से उत्पन्न विद्रोह की चेतना।

निराला ने गीत को अपने दीर्घकाल से बिछुड़े सहचर संगीत से मिलवाया। उन्होंने हिन्दी संगीत-पद्धति का परिष्कार किया। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विशिष्ट संगीत प्रणाली की निर्मिति कर अपने गीतों को संगीतबद्ध किया था, जो 'रवीन्द्र संगीत' के विशिष्ट नाम से जाना जाता है। निराला के मन में भी हिन्दी को एक परिष्कृत गीत-संगीत प्रदान करने की योजना थी। अब इसे हिन्दी साहित्य-जगत की त्रासद विडम्बना ही कहना चाहिए कि हिन्दी का यह भारती पुत्र, एक अदद अच्छा हारमोनियम ख़रीदने की स्थिति में कभी नहीं रहा। निराला ने अपनी असीम संकल्प-शक्ति और ऊर्जा के बल पर ऐसे गीतों की संरचना की, जिनमें, काव्य के अंतरंग और बहिरंग दोनों का सन्तुलन है। निराला ने शास्त्रीय संगीत का सहारा लेकर, लेकिन भाषा को बिगाड़े बग़ैर और भावों को कुण्ठित किये बिना गीतों की रचना की। निराला का यह गीतांश 'दादरा' में गेय है :

"सखि, वसंत। आया।
भरा हर्ष। वन के मन।
नवोत्कर्ष छाया।"

निराला सौन्दर्य और प्रकृति के अनुपम चितेरे हैं। अपनी कविता 'जूही की कली' से ही उन्होंने प्रकृति के मानवीकरण और मानवीय रागात्मकता में प्रकृति की साझेदारी का अनूठा चित्रण कर दिया था। प्रकृति के उल्लासमय मुक्त वातावरण में मानव सहज ही कैसे उल्लसित हो उठता है, उसका चित्रण देखें :

"किरणें कैसी-कैसी फूटीं
आँखें कैसी-कैसी तुलीं,
चिड़ियाँ कैसी-कैसी उड़ीं,
पाँखें कैसी-कैसी खुलीं।
भाई भतीजों के संग,
नैहर की आयी हुई,
सहेलियाँ कैसी-कैसी
बग़ीचों में मिली-जुलीं।"

निराला ने उर्दू की शब्दावलियों और छंदों का प्रयोग और मिश्रण कर भी गीत लिखे, पारम्परिक लोग गीतों के कजली, होली आदि को भी अपनाया। 'बेला' की कजली की ये पंक्तियाँ कितनी लोकप्रिय हो गयी थीं :

"काले-काले बादल छाये, न आये वीर जवाहरलाल
कैसे-कैसे नाग मँडलाये, न आये वीर जवाहरलाल।"

छायावाद का युग गीत का स्वर्णिम युग था। प्रेम, प्रकृति, राष्ट्र, दर्शन आदि विविध विषयों को समाविष्ट कर, पूरी कलात्मक कुशलता के साथ प्रस्तुत करना छायावाद की सबसे बड़ी शक्ति थी। छायावाद ने लोक-काव्य और लोक-जीवन को नहीं भुलाया, उन्हें सहयात्री

ही बनाने का प्रयास किया। छायावाद स्वयं एक विद्रोह की उपज था, वह परिपक्व होकर स्वयं में विद्रोह का कारण बन गया। *हिन्दी साहित्य में सम्भवतः मध्ययुगीन भक्ति काल को छोड़कर* अन्य किसी काल में एक साथ प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी जैसे चार-चार श्रेष्ठ समकालीन रचनाकार नहीं हुए। लेकिन सन् 1930 के बाद से और 1936 आते-आते छायावाद के अन्त की घोषणा, स्वयं छायावादी कवियों ने ही कर दी। तत्कालीन समाज, राजनीति और साहित्य के बीच की कड़ी को छायावाद अटूट नहीं रख पा रहा था। उसकी परिपक्वता, उसका आभिजात्य ही उसको शक्तिहीन बनाने लगा था। सुमित्रानंदन पंत के शब्दों में, "छायावाद अधिक देर नहीं रहा, क्योंकि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन-विचारों का रस न था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।"

O

प्रगतिवाद पर इस सन्दर्भ में, एक दृष्टि डालना अनुचित न होगा। सन् 1920-25 के बीच भारत में स्थापित कम्युनिस्ट पार्टी को मार्क्सवाद का राजनीतिक मोर्चा और 'प्रगतिवाद' को उसका साहित्यिक-सांस्कृतिक मोर्चा माना जाता है। हिन्दी कविता के क्षेत्र में 'प्रगतिवाद' के उद्गम, स्वरूप और साहित्यिक मूल्यवत्ता से जुड़े अनेक विवाद उठ खड़े हुए थे। विख्यात समीक्षक नगेन्द्र ने कहा कि 'प्रगतिवाद' छायावाद की भस्म से पैदा नहीं हुआ, उसके यौवन का गला घोंटकर उस पर खड़ा हुआ है' तो शिवकुमार मिश्र ने कहा, "छायावाद मरा नहीं, न ही उसकी हत्या हुई, अपितु अपने विकास की चरमावस्था पर पहुँचकर वह स्वतः एक पके हुए फूल की भाँति धरती पर चू कर नवीन के लिए स्थान रिक्त कर गया है।" सुमित्रानन्दन पन्त और 'व्यक्तिपरक यथार्थवादी' कविता के समर्थ रचनाकार नरेन्द्र शर्मा के सहसम्पादन में प्रकाशित होती 'रूपाभ' मासिक पत्रिका में भी छायावादी काव्य की स्वप्न-जड़ित आत्मा और भाव तथा कल्पना की आकाशी उड़ानों की युग-सन्दर्भहीनता को रेखांकित किया गया और पन्त ने घोषित किया, "इस युग की आवश्यकता ने जैसा रूप धारण कर लिया है, इससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा अवकाश में पलनेवाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्नजड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप में सहम गयी है, अतएव इस युग की कविता सपनों से नहीं पल सकती, उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।"

लेकिन 'छायावाद' का काव्य-आन्दोलन इतना महत्त्वपूर्ण अवश्य था कि उसके अवसान की घोषणाओं के बावजूद अनेक महत्त्वपूर्ण गीतकार वर्षों तक उसकी शैली को विकसित करते रहे। जानकीवल्लभ शास्त्री, विद्यावती कोकिल, सुमित्राकुमारी सिन्हा, गोपाल सिंह नेपाली, गुरुभक्त सिंह 'भक्त', उदयशंकर भट्ट आदि उनमें प्रमुख हैं। नेपाली जी का गीत *'उस पार कहीं बिजली चमकी होगी। जो झलक उठा है मेरा भी आँगन'* जन-जन की ज़बान पर वर्षों चढ़ा रहा। लेकिन छायावादोत्तर काल में गीत कई अन्तर्धाराओं में प्रवाहित हुआ। छायावादी आन्दोलन में अन्तर्भूत

कई धाराओं ने अपना-अपना स्वतन्त्र मार्ग और अभिधान प्राप्त किया। कुछ कविताओं को राष्ट्रीय-सांस्कृतिक गीतधारा का हिस्सा कहा गया, तो कुछ को व्यक्तिपरक गीतधारा का। उल्लेखनीय बात यह रही कि साहित्य में विभिन्न विधाओं के सर्जन और विकास के बावजूद गीत-काव्य, सामाजिक परिवर्तन और उथल-पुथल का साक्षी बना रहा और उसका दर्ज़ा एक सामाजिक दस्तावेज़ की तरह महत्त्वपूर्ण रहा। गीतकाव्य की महत्ता के लिए इससे बड़ा प्रमाण और क्या चाहिए कि एक ही बनारस शहर में, एक ही समय में उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द और महाकवि जयशंकर प्रसाद रहते थे और उपन्यासों का उपन्यास *गोदान* और छायावाद का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य *कामायनी* कमोबेश एक की काल-खंड की निर्मिति हैं।

O

छायावाद के अस्ताचल जाते-जाते भी सन 1942 का वक़्त आ गया था और निश्चित ही उसके मूल स्वर बदलने लगे थे। विनोद गोदरे ने इस बदलाव को यों चित्रित किया, "सन् 36 के आस-पास से ही...'वीणा', 'युगवाणी' में रूपायित हो गयी। 'सान्ध्यगीत', 'निशा निमन्त्रण' का 'एकान्त संगीत' बन गया। 'जुही की कली', 'कुकुरमुत्ता' बन गयी। 'मधुप कुमारि', 'ग्राम्या' वनी। युग की छटपटाती हुई तरुणाई ने 'हलाहल' पीकर 'प्रवासी के गीत' गुनगुनाए। हरिवंश राय 'बच्चन', नरेंद्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल अंचल', आरसी प्रसाद सिंह इस धारा के महत्त्वपूर्ण गीतकार रहे।"

आज इतने दशकों के अन्तराल से मुड़कर देखने के बाद इन गीतकारों की रचनाओं की मूल्यवत्ता में अन्तर करने को जी चाहता है। तत्कालीन समीक्षकों ने और बाद के विशेषकर सामाजिक यथार्थपरक 'प्रगतिवादी' आलोचकों ने इन गीतकारों की रचनाओं में संकीर्ण वैयक्तिकता देखी; रुग्ण, आत्मघाती प्रवृत्ति देखी, शर्मनाक पलायनवाद देखा और एक प्रकार से उन्हें 'जन-विरोधी' और 'जनशत्रु' ही घोषित कर दिया। लेकिन यह किसी ने नहीं सोचा कि सदियों से सामाजिक वर्जनाओं और पाप-पुण्य के बन्धनों में बन्दी भारतीय समाज के युवा-वर्ग ने पहली बार अपने व्यक्तिगत सुख-दुख, प्रेम-पीड़ा का जो अवगुंठन रहित चित्रण और बयान इस काव्यधारा में किया था, वह कितने बड़े साहस और दुस्साहस की माँग करता था। इनमें से हर गीतकार अपनी निजी और सामाजिक ज़िन्दगी में भयावह विरोधाभासों और अन्तर्विरोधों का सामना कर रहा था। उसे अभिव्यक्त करने की मनोकामना छायावादी कवि में थी, लेकिन उसे भी 'शशि मुख पर घूँघट डालकर' ही प्रेम-निवेदन करना पड़ रहा था या 'जूही की कली' जैसे प्रतीकों और मनु-श्रद्धा जैसे मिथक-पात्रों का इस्तेमाल करना पड़ रहा था। छायावादोत्तर काल के व्यक्तिपरक गीतधारा के कवियों ने बेधड़क अपनी बात कही। यह याद रखने की बात है कि बच्चन, नरेंद्र शर्मा, अंचल आदि के गीतों की लोकप्रियता सिर्फ़ उनकी भाषा-शैली या प्रस्तुतीकरण की रोचकता की वजह से नहीं फैली थी। ये गीतकार, युवा-वर्ग के जीवन के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष—प्रेमाकांक्षा—को उनके ही शब्दों में अभिव्यक्त कर रहे थे, इसीलिए कवि-सम्मेलनों और युवा-गोष्ठियों में उन्हें हाथों-हाथ स्वीकार कर लिया गया था। व्यक्ति समाज का एक हिस्सा है और अगर वह अपनी पीड़ा व्यक्त करता है, तो उसके ज़रिए समाज को

चेतावनी भी देता है, उसके रुग्ण पक्ष की ओर अंगुलि-निर्देश भी करता है। आरसी प्रसाद सिंह ने सही कहा है :

> *"छिपाने को छिपा लेता विकल चीत्कार मैं सारा।*
> *मगर अभिव्यक्ति की मानव-सुलभ तृष्णा नहीं जाती।"*

'बच्चन' ने भी यही कहा :

> *"भावनाओं की मधुर आधार साँसों से विनिर्मित*
> *गीत कवि-उर का नहीं उपहार*
> *उसकी विकलता है।"*

और व्यक्तिपरक गीतकारों पर लगाये गये अधिकांश आरोपों का उत्तर 'बच्चन' के ही शब्दों में सटीक उतरता है :

> *"कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा*
>
> *...क्या किया मैंने नहीं जो कर चुका संसार अब तक*
> *वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी !*
> *मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता*
> *शत्रु मेरा बन गया है छलरहित व्यवहार मेरा।"*

O

सच्चाई यह भी है कि भारतीय युवा-वर्ग किसी भी काल में (सामन्तवादी युग को छोड़ दें) इतना उत्तरदायित्वहीन नहीं हो सकता था कि संसार को भूलकर अपने शयनागार का द्वार बन्द कर अपने ही सुख के अधिकार को एकान्त-भाव से भोगे। सन् 1936 का समय देश में सामाजिक उथल-पुथल, राजनीतिक आन्दोलन और वैचारिक टकराहटों का था। राष्ट्रीय काव्य धारा में विशेष रूप से भारतवर्ष, उसकी जनता, उसका गौरव, उसकी समस्याओं को कथ्य का विषय बनाया गया। निश्चित ही भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग से होती हुई यह विचारधारा काव्य रूप में आज तक प्रवहमान है। हिन्दी राष्ट्रीय गीतों ने बहुत जल्द ही भारत की भौगोलिक सीमाओं को राष्ट्र या किसी धर्म-विशेष को राष्ट्रीय धर्म मानने की संकीर्ण वृत्ति को त्याग दिया था। भौगोलिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता पर ज़ोर देते हुए भी राष्ट्रीय कविताओं का स्वर प्रगतिशील और उदार मानवतावादी रहा। राष्ट्रीय गीतों के कई रचनाकार स्वयं आज़ादी की लड़ाई में सिपाही और सिपहसालार की भूमिका निभा रहे थे, इसलिए उनके उद्‌गारों पर विश्वसनीयता की मुहर लग जाती थी। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्रा कुमारी चौहान, रामधारी सिंह 'दिनकर', सोहनलाल द्विवेदी आदि इस धारा के उल्लेखनीय कवि रहे। इन कवियों में से अधिकांश के काव्य-जीवन में दूसरे आयाम भी रहे हैं, लेकिन हिन्दी गीतेतिहास में उनका उल्लेख राष्ट्रीय गीतों के रचनाकार के रूप में ज़्यादा प्रमुखता से अंकित है।

सामान्यतः राष्ट्रीय गीनों की उम्र यों दीर्घ नहीं होती, क्योंकि संघर्ष और संग्राम समाप्त

होते ही उनकी उपादेयता समाप्त हो जाती है, लेकिन हिन्दी राष्ट्रीय गीतों के साथ वैसा नहीं हुआ। भले ही गीतकारों ने तत्कालीन विदेशी शासकों को शत्रु मानकर उनके ख़िलाफ़ गीत लिखे थे, लेकिन सामान्यतया उनकी मुख़ालिफ़त अन्याय, दमन और शोषण की उनकी प्रवृत्ति के प्रति थी। उनका आक्रोश विदेशी शासकों की बनिस्बत उनके देशी पिट्ठुओं के ख़िलाफ़ ज़्यादा था, उनका संग्राम केवल राजनीतिक विजय पाने के लिए नहीं था। और चूँकि राजनीतिक आज़ादी पा चुकने के बाद भी देश की बहुलांश आम जनता वस्तुतः गुलाम ही है, इसलिए वे राष्ट्रीय गीत आज भी सार्थक हैं और आज भी उद्बोधन का कार्य करते हैं। माखनलाल चतुर्वेदी की 'पुष्प की अभिलाषा', 'दिनकर' की 'हिमालय' और सुभद्रा कुमारी चौहान की 'ख़ूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी' रचनाएँ इसीलिए कालजयी सिद्ध हुई हैं। यह भावधारा गीत में आज तक अवरुद्ध नहीं है। 'दिनकर' हमारे बीच भले नहीं हैं, लेकिन उनका रचना-स्वर अनेकानेक रूपों में मुखरित है। उदाहरण के लिए यह राजस्थान में मेघराज मुकुल के शब्दों में या ग्वालियर में रामकुमार चतुर्वेदी 'चंचल' में बोल रहा है तो वही स्वर दिल्ली में देवराज दिनेश की वाणी में उभरता रहा और मेरठ में हरिओम पवार के ओज में अभिव्यक्ति पा रहा है।

O

राष्ट्रीय चेतना की इस धारा पर विचार करने के साथ-साथ हमें उस आन्दोलन पर भी दृष्टि डालनी होगी, जिसका सम्बन्ध देश की प्रगतिशील विचारधारा से है। इस दृष्टि से सन् 1936 हिन्दी साहित्येतिहास में एक उल्लेखनीय वर्ष था। लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का पहला अधिवेशन उपन्यास-सम्राट मुंशी प्रेमचन्द की अध्यक्षता में हुआ। यूरोप के पेरिस शहर में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' की स्थापना 'साहित्य और जीवन को नयी राह' दिखलाने के उद्देश्य से यूरोप के विख्यात लेखकों ने की थी और प्रसिद्ध उपन्यासकार ई. एम. फ़ार्स्टर के सभापतित्व में इसका पहला अधिवेशन हुआ था। इसके अनुकरण पर कुछ भारतीय बुद्धिजीवियों—मुल्कराज आनन्द, सज्जाद ज़हीर, भवानी भट्टाचार्य आदि ने लन्दन में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना की। उसी का प्रथम अधिवेशन 1936 में लखनऊ में हुआ, इसके बाद से तो 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिवादी साहित्य' को ज़्यादा स्पष्ट रूप से परिभाषित भी किया जाने लगा और उन पर बड़ी तीखी-कटु बहसें भी शुरू हुईं।

प्रगतिवाद का सैद्धान्तिक मूलाधार उन्नीसवीं सदी के महान जर्मन चिन्तक, समाजवादी कार्ल मार्क्स (1818-1883) के इतिहास के भौतिकवादी विश्लेषण, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, वर्ग-संघर्ष के ऐतिहासिक प्रतिपादन, पूँजीवादी औद्योगिक युग के शोषक स्वरूप के प्रस्तुतीकरण और सर्वहारा की क्रान्ति और अन्ततोगत्वा वर्गहीन साम्यवादी समाज की स्थापना की सुनिश्चित परिकल्पना पर आधारित है और सामान्य तौर पर मूलतः मार्क्सवादी-साम्यवादी सिद्धान्तों सामाजिक परिकल्पनाओं पर आधारित काव्य-रचनाओं को 'प्रगतिवादी' अभिधान दिया गया है। प्रगतिवाद के आरम्भ और समापन का काल-निर्धारण और उस विशेषण के प्रयोग की उपयुक्तता और उसके अन्तर्गत परिगणित कविताओं की साहित्यिक मूल्यवत्ता पर बड़ी साहित्यिक और ग़ैर साहित्यिक खेमेबन्दियाँ और उग्र बहसें उस युग में चली थीं और अब भी उनकी गूँज

उठती रहती है। लेकिन उनके परे हटकर यह निश्चित कहा जा सकता है कि 'प्रगतिवादी' चिन्तन और रचनाओं ने हिन्दी कविता और गीत-साहित्य को समृद्ध ही किया है। यह रेखांकित करना ज़रूरी है कि मार्क्सवादी दर्शन और मार्क्सवाद आधारित राजनीतिक संस्थाओं से सीधे जुड़े न होने के बावजूद साहित्य के सामाजिक सरोकार को उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य मानने की प्रगतिवाद की सोच ने क़रीब-क़रीब सभी रचनाओं को प्रभावित किया। यों 'निराला' का यह दावा भी रहा कि प्रगतिवाद की शुरुआत का श्रेय उन्हें मिलना चाहिए, क्योंकि उन्होंने तो बहुत पहले ही *बेला, नये पत्ते* और *कुकुरमुत्ता* जैसी रचनाओं में सामाजिक यथार्थ का कठोर, विद्रूप और भदेस रूप चित्रित किया था और उसके लिए उपयुक्त और सहज-बिम्बात्मक शैली और भाषा को गढ़ा था। विशुद्ध रूप से प्रगतिवाद के प्रतिनिधि कवियों के रूप में रामविलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, नागार्जुन, त्रिलोचन शास्त्री आदि के नाम तो लिए ही जाते हैं, थोड़े-से ही अन्तराल में शुरू हुए 'प्रयोगवाद' नामक काव्यान्दोलन के प्रतिनिधि काव्य-संग्रह *तार-सप्तक* में संगृहीत चार कवि—मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल और रामविलास शर्मा घोषित रूप से साम्यवादी विचारधारा के पोषक थे। व्यक्तिपरक, *यथार्थोन्मुख*, प्रणयपरक रचनाकार नरेन्द्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' आदि ने भी सामाजिक यथार्थवादी और सर्वहारा को क्रान्ति के लिए जागृत करती हुई कविताएँ कम नहीं लिखीं। वैसे इन सभी कवियों को चौखटाबद्ध करने की कोशिशें बेमानी भी हैं और रचनाधर्मिता के लिए अनुचित भी। क्योंकि प्रगतिशीलता के साथ जनकल्याण और मानवीय अस्मिता का पहलू जुड़ा हुआ था और उससे कोई भी सही रचनाकार अछूता नहीं रह सकता था। रामविलास शर्मा के गीत में मानवीयता की स्थापना की आशा देखें :

"नई फ़सल देगी फिर धरती लपटों में झुलसायी।
खाद बनेंगे लूट और हत्या के ये व्यवसायी।
पाँचों नदियाँ एक साथ सींचेंगी यह हरियाली
लपटों के बदले होगी उगते सूरज की लाली।"

केदारनाथ अग्रवाल ज्वालामयी क्रान्ति का आवाहन करनेवाले गीतों के साथ ही तीव्र रागात्मकता को अंकित करनेवाले लोकधुनाश्रित गीत भी सुनाते हैं :

"माँझी न बजाओ बंशी मेरा मन डोलता
मेरा मन डोलता है जैसे जल डोलता
जल का जहाज़ जैसे पल-पल डोलता।"

शमशेर बहादुर सिंह में वैयक्तिक प्रणय की मार्मिक मनुहार द्रष्टव्य है :

"लौट आ,
ओ फूल की पंखड़ी
फिर
फूल में लग जा।"

प्रगतिवादी चेतना अपने विभिन्न आयामों में नागार्जुन के गीतों में साफ़ दीखती है।

'कालिदास' से लेकर किसी रिक्शेवाले के 'बिवाई फटे पाँवों' तक उनकी संवेदनाओं का परास फैला हुआ है। और गार्हस्थिक प्रणयानुभूति से लेकर सामाजिक राजनीतिक चुटीले व्यंग्य तक उनकी रचनाओं की अभिव्यक्ति-क्षमता का फैलाव है :

"घोर तिमिर में परिस्थिति ने दिया है डाल
याद आता तुम्हारा सिन्दूर तिलकित भाल।"
... .
"आज़ादी की कलियाँ फूटीं, पाँच साल में होंगे फूल
पाँच साल में फल निकलेंगे रहे पन्त जी झूला झूल
पाँच साल कम खाओ भैया ग़म खाओ दस-पन्द्रह साल
अपने ही हाथों से झोंको यों अपनी आँखों में धूल।"

प्रगतिवाद सन् 1940 के आस-पास एक प्रबल साहित्यिक आन्दोलन रहा। यह एकमात्र ऐसा साहित्यिक-सांस्कृतिक आन्दोलन है, जिसका उद्भव और विकास राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों से प्रत्यक्ष जुड़ा था। सम्भवतः यही उसकी शक्ति थी और यही उसकी कमज़ोरी भी। दिनकर जैसे कवियों की मान्यता थी कि "प्रगतिवाद साहित्य पर ऐसा प्रभाव न डाल सका, जिसे साहित्यिक प्रभाव कहें। वह मुख्यतः साहित्येतर आन्दोलन था, जो साहित्य के भीतर केवल राजनीतिक उपयोग के लिए साहित्य का शोषण करने आया था।" देखा जाए तो प्रगतिवादी साहित्य पर यह टिप्पणी एकांगी-सी है। मगर निश्चित ही अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने और भारतीय आज़ादी की लड़ाई में गाँधीवादी-सत्याग्रह की मुख्य धारा ने वामपंथी राजनीतिक विचारधाराओं और आन्दोलनों को भारतीय उपमहाद्वीप में प्रबल प्रभावी शक्ति बनने नहीं दिया। साथ ही, सन् 1947 के आते-आते उसे नकारात्मक खेमे में भी सक्रिय देखा गया। प्रगतिवादी साहित्यिक आन्दोलन के लिए यह बड़ा घातक साबित हुआ और सन् 1948-50 तक उसकी सक्रियता में थोड़ा विराम भी आया।

O

1943 में सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' के सम्पादकत्व में *तार सप्तक* प्रकाशित हुआ और उसका मूल स्वर अगले दो दशकों तक कविता की एक मुख्य धारा रहा। इस दौरान उसके और 'प्रगतिवादी' कवियों के और उसके अतिरिक्त किसी आन्दोलन के सदस्य न होकर भी उल्लेखनीय रचनाएँ करनेवाले हिन्दी के अनेक कवियों के बीच प्रबल मतभेद और बहसें होती रहीं। 'छायावाद' के ज़माने से ही चूँकि रचनाकार ने स्वयं ही अपनी रचना और विचारधारा की समीक्षा और पैरवी करने का काम शुरू कर दिया था, इसलिए हिन्दी कविता-जगत में ऐसा दृश्य भी उभरने लगा कि लगभग सभी कवि या तो ख़ुद कठघरे में खड़े थे या वकील का चोगा पहनकर पैरवी कर रहे थे। इन सबके बीच न्यायाधीश के आसन पर पाठक या श्रोता-वर्ग को होना चाहिए था, पर ऐसा भी विडम्बनामय काल आया, जब श्रोता और पाठक तो उठकर चला गया और वकील और मुद्दई ही एक-दूसरे पर नालिशें ठोकते रहे और बहसें करते रहे।

इन बहसों में गीत को लेकर स्वयं अज्ञेय जी की टिप्पणी ग़ौरतलब है, जबकि उनके

सम्पादन में निकले सप्तकों के कवियों में गीत कवियों की कमी नहीं थी। इनमें गिरिजा कुमार माथुर और केदारनाथ सिंह के नाम तो विशेष रूप से लिये जा सकते हैं। अज्ञेय जी ने लिखा, "एक तो गतानुगतिक रचना अच्छी होकर भी नयी प्रवृत्तियों के विवेचन में स्थान नहीं रखती, जब तक कि गतानुगतिकता स्वयं नयी प्रवृत्ति न मान ली जाए। और दूसरे, समकालीन प्रवृत्ति गीत और कविता को पर्यायवाची मानने की नहीं है। विश्व का कोई भी साहित्य अपने गीतकारों को अपने काव्य में नहीं गिनता। यदि यह पूर्वाग्रह है, तो इतना व्यापक कि उसे एक प्रवृत्ति मानना चाहिए।"

यह ख़ुशी की बात है कि प्रयोगवादी या नयी-नयी 'राहों के अन्वेषियों' ने गीत को सरासर नकार नहीं दिया और यह इसीलिए हुआ कि वैसा कर पाना असम्भव था। केदारनाथ सिंह ने 'प्रयोगवादी' या 'प्रयोगशील' होते हुए भी गीतों की पैरवी की और कहा : "गीत कविता का एक अत्यन्त निजी स्वर है, जिसमें कवि सारे बाह्य अवरोधों और उसकी असंख्य तहों को भेदकर सीधे अपने आप से बात करता है।" गिरिजा कुमार माथुर ने तो गीत में ही अपनी मुक्ति देखी :

"मैं शुरू हुआ मिटने की सीमा रेखा पर
रोने में था आरम्भ, किन्तु गीतों में मेरा अन्त हुआ।"

केदारनाथ सिंह का विदा-दृश्य देखें। यह सफल प्रयोगधर्मा गीतात्मक उपलब्धि इस देश के हज़ारों साहित्य-प्रेमियों के कण्ठ पर विराजमान है :

"रुको, आँचल में तुम्हारे
यह समीरन बाँध दूँ, यह टूटता प्रण बाँध दूँ।
एक जो उन उँगलियों में
कहीं उलझा रह गया है
फूल-सा वह काँपता क्षण बाँध दूँ।"

O

वैचारिक धरातल पर खेमेबन्दी के बावजूद गीत की अविराम यात्रा ज्यों का त्यों जारी रही है। उस पर आरोप भी लगते रहे और उसकी रचनाशीलता उन आरोपों का जवाब भी अपने ढंग से देती रही। सबसे बड़ा आरोप गीत पर यह लगा कि समय की आवश्यकता के अनुरूप उसकी रचनाशीलता नहीं चल पाती। जबकि गीत का यथार्थ हर कालखण्ड में इसका खण्डन करता रहा है। मेरा दृढ़ मत है कि समय-सन्दर्भ रचना पे अपनी छाप छोड़ता ही है। गीत में वस्तु ही नहीं, भाषा, बिम्ब और शिल्प भी समय-सन्दर्भ को रेखांकित करते रहे हैं; इनके ज़रिये समूची गीतयात्रा को पहचाना-परखा जा सकता है। अनुभूति की गहनता और रागात्मकता की तीव्रता में कोई अन्तर न मानते हुए भी बिम्ब-विधान और भाषागत रचाव रचनाकार के अपने ज़माने का आभास दे देते हैं। प्रसाद की *कामायनी* में जब पढ़ते हैं :

"नील परिधान बीच सुकुमार
खिल रहा मृदुल अधखुला अंग।

खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रंग।"

या उनके *आँसू* में वियोग शृंगार की तस्वीर यों देखते हैं :

"परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
निश्वास मलय के झोंके
मुखचन्द्र चाँदनी जल से
मैं उठता था मुँह धो के
मृदु मालतियाँ सोयी हैं
कोमल उपधान सहारे
मैं व्यर्थ प्रतीक्षा करता
गिनता अम्बर के तारे।"

और फिर इसके बाद अचानक पढ़ने को मिल जाए :

"तुम्हारी शपथ मैं तुम्हारा नहीं हूँ
भटकती लहर हूँ किनारा नहीं हूँ
तुम्हारा ही क्या, मैं नहीं हूँ किसी का
रहेगा मुझे अन्त तक दुख इसी का"...आदि आदि।

तो यह तो हो सकता है कि आप सीधे यह न पहचान पाएँ कि यह रचना बलबीर सिंह 'रंग' की है, लेकिन इतना पहचानने में किसी भी सुधी पाठक को परेशानी नहीं होगी कि यह रचना जयशंकर प्रसाद के समय की नहीं हो सकती। कई बार तो यह पहचान कुछेक शब्द ही करा देते हैं। मसलन् किसी गीत पंक्ति में 'तव' अथवा 'मानव' शब्द के उपयोग मात्र से यह जाना जा सकता है कि इसका रचनाकार आज के भाषा-सन्दर्भों से कितना पीछे है। अपने अनुभव से इस बात को स्पष्ट करने के लिए अपने एक गीत की रचना-प्रक्रिया का उदाहरण सामने रख रहा हूँ। एक बरसाती शाम को, गुनगुनाते हुए मेरे मन में एक गीत पंक्ति उठी :

"बिन बरसे मत जाना रे बादल,
बिन बरसे मत जाना
मेरा सावन रूठ गया है
मुझको उसे मनाना रे बादल
बिन बरसे मत जाना !"

गुनगुनाहट ने थोड़ा और जोड़ा :

"झुकी बदरिया आसमान पर
मन मेरा सूना
सूखा सावन, सूखा भादों
दुख होता दूना
दुख का तिनका-तिनका लेकर

मन को ख़ूब सजाना रे बादल।
बिन बरसे मत जाना।"

अनायास जुड़ते चले गए इस छंद में 'बदरिया' जैसे शब्द के आने से मुझे परम्परा से जुड़ी अपनी शब्द-योजना का सुख तो मिला, लेकिन वह मेरे समय की भाषा से मुझे नहीं जोड़ रहा था। मेरे मन में भाव पैदा हुआ कि देखें, यह परम्परावादी पद शैली का गीत मुझे अपने ज़माने की भाषा और बिम्ब से जोड़ता है या परम्परा में ही बाँधकर रखता है। यों कहें कि परम्परा इस गीत को पूरा करने में मेरी भाषा और मेरे बिम्ब-विधान को खींचकर अपनी तरफ़ ले जाती है या मेरा अपना ज़माना परम्परा को घसीटकर नये धरातल पर खड़ा करता है। पहले छन्द से जब दूसरे छन्द में आये तो ज़माने की पकड़ ने परम्परागत बिम्ब को झटका दिया और तीसरे छन्द में आते-आते उसकी बिम्ब-योजना मेरे अपने समय की भाषा बोलने लगी :

"पिसे काँच पर धरी ज़िन्दगी
कात रही सपने।
मुट्ठी की-सी रेत
खिसकते चले गये अपने।
श्रम के इंद्रधनुष रंग बाँटे
इन पर क्या इतराना रे बादल !
बिन बरसे मत जाना।"

यह मेरा 'बादल गीत' प्रयोग के लिए एक प्रयोग तो था, लेकिन इस बात का प्रमाण भी था कि समय-संदर्भ भाषा, बिम्ब और शिल्प को बदलता ही है। इसी परिप्रेक्ष्य में देखें, तो कई बार अलग-अलग स्थानों पर रचना कर रहे दो रचनाकार एक ही समय में एक ही तरह के बिम्ब और एक-जैसी भाषा बोलते नज़र आते हैं। वीर सक्सेना रचना करते हैं जयपुर में और नरेश सक्सेना गीत लिखते हैं लखनऊ में, लेकिन बात एक तरह से कहते हैं :

"जाने क्या क्या
कर देती हो, भूल से
दो क्षण का अपनत्व मिला
मन की बातें
तुमने सब कह दीं
गुलाब के फूल से।" (वीर सक्सेना)
... ...
"सुना, हमारी और तुम्हारी बात पर
आँगन की तुलसी को
हरसिंगार ने
सुना-सुनाकर ताने मारे
रात भर।" (नरेश सक्सेना)

रागात्मकता की ऐसी ऐकान्तिक आत्मीय मुद्राएँ समय की अपनी भाषा में पीढ़ियों का व्यवधान तोड़कर भी गीत में बोलती नज़र आती हैं। गिरिजा कुमार माथुर वीर सक्सेना से पहले की पीढ़ी के गीतकार हैं : नरेश सक्सेना से तो और भी अधिक पहले के हैं। लेकिन रागात्मक ऐन्द्रिकता उभारते हुए वे और भी अधिक युवा धरातल पर आकर बोलते हैं :

"मेरे युवा आम में
नया बौर आया है
ख़ुशबू बहुत है
क्योंकि तुमने लगाया है।"

लेकिन समय-सन्दर्भों की अभिव्यक्ति का रागात्मकता से जुड़ा यह एक पहलू है, जबकि समय-सन्दर्भ अपने अनन्त आयामों में हमें गीतों में उतरा हुआ दीख जाता है। भक्ति-चेतना से लेकर सामाजिक वैषम्य की विडम्बनाओं तक, राग की अन्यतम ऐकान्तिक अनुभूतियों से लेकर आग और विराग तक अनेक छाया-क्षणों को गीत अपने युग के अनुरूप वाणी देता आया है। एक ही समय में एक साथ अनेक चेतना-खण्डों को हम गीत में रूपायित पाते हैं और अक्सर एक ही समय में वही रचनाकार विप्लव और क्रान्ति का आवाहन भी करता है और प्रेम की अपरिमित पेंगें भी भरता नज़र आता है। माखनलाल चतुर्वेदी की क़लम एक तरफ़ 'पुष्प की अभिलाषा' लिखती है :

"चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ
चाह नहीं प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊँ
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ
मुझे तोड़ लेना बनमाली उस पथ में देना तुम फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।"

वही 'भारतीय आत्मा' माखनलाल चतुर्वेदी मृदुल हथेली पर मेंहदी से तस्वीर खिंचते देखते और कहते हैं :

"मेंहदी से तस्वीर खींच ली
किसने मृदुल हथेली पर।"

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का तो समूचा गीत-संसार विप्लव की आग और भावना के राग का संसार है, जिसके बीच वे लगातार मनुज के दीन-हीन स्वरूप को देखकर दुखी होते रहे और उस वेदना को वाणी देते रहे।

वास्तव में गीत ने रचनात्मक चेतना की हर अनुभूति को अपना सम्बल दिया है। उसमें सामाजिक और आर्थिक विसंगतियाँ भी सम्मिलित हैं, राजनीतिक परिस्थितियाँ भी। इसके बावजूद गीत पर आरोप थोपा जाता रहा है कि यह रागात्मक वृत्ति और भावनात्मक उद्रेक को तो व्यक्त कर सकता है, लेकिन सामाजिक विडम्बनाओं, आर्थिक वैषम्य, महँगाई और बेरोज़गारी की मार तथा रोटी की लड़ाई अथवा राजनीतिक दुष्चक्रों को अभिव्यक्त कर पाने में सक्षम नहीं है।

ऐसे आरोपों को सुनकर या पढ़कर मुझे हमेशा लगता रहा है कि ऐसे आरोप गीत में असंख्य, दुबारा कह रहा हूँ कि असंख्य गीतकारों के कृतित्व से आँखें मूँदकर, झाड़े और गढ़े जाते हैं। गीत के सामर्थ्य पर प्रश्नचिह्न लगाने वाले ये आरोपकार अपनी आरोप-रचना के जोश में यह देखना भूल जाते हैं कि आधुनिक हिन्दी गीत ने अंग्रेज़ों के राजनीतिक दमनचक्र के विरोध में ही क्रान्ति का बिगुल नहीं बजाया, आज़ादी के बाद मानवीय गरिमा को गिरवी रखनेवाले राजनीतिक दुष्चक्रों के विरोध में भी अपना शर-संधान किया है। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का एक ही गीत आज़ादी के पहले का वह स्वर प्रतिध्वनित करने के लिए काफ़ी होगा :

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल-पुथल मच जाए
एक हिलोर इधर से आये
एक हिलोर उधर से आए।"

और आज़ादी के बाद गीत का वह रूप ढीला पड़ गया हो, ऐसा भी नहीं है। नरेन्द्र शर्मा का 'नाच रे मयूरा' गीत याद करें। शब्द उसमें ऐसे अवतरित होते हैं, जैसे नटराज शिव ताण्डव करने उतर रहे हों। शब्द देखें :

"धाधा तेटे धा मृदंग
प्रतिपल नव राग रंग
साँसों के सरगम पर
छिड़े तानपूरा।
नाच रे मयूरा !" (नरेन्द्र शर्मा)

ऐसे आरोपकर्ताओं की निगाह से हिन्दी गीत की ऐसी गौरव पंक्तियाँ कैसे ओझल हो जाती हैं, मैं समझ नहीं पाता। उन्हें दिनकर की 'मेरे नगपति मेरे विशाल' की पंक्तियों की याद नहीं आती, जो चिल्लाकर कहती हैं कि हे व्रती हिमालय, जाग, यह तप में शान्त बैठने का समय नहीं है :

"नवयुग शंखध्वनि बजा रही
तू जाग, जाग मेरे विशाल।"

उन्हें *'सिंहासन ख़ाली करो कि जनता आती है'* जैसी पंक्ति याद नहीं आती, जो जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति की दीवारों का उद्‌बोधन गीत बन गयी थी। *परशुराम की प्रतीक्षा* भी उन्हें नहीं दीखती। उन्हें मानव मन के रागात्मक आयामों के अदभुत चितेरे हरिवंशराय 'बच्चन' की *जनगीता* भी याद नहीं आती, शिवमंगल सिंह 'सुमन', रामकुमार चतुर्वेदी 'चंचल', मेघराज मुकुल और देवराज दिनेश से लेकर हरिओम पवार तक किसी कवि का कोई गीत याद नहीं आता।

रमानाथ अवस्थी मानवीय सम्बन्धों के कुशल चितेरे कवि के रूप में विख्यात हैं। *'रात और शहनाई'* की रागात्मकता से लेकर *'आख़िर यह मौसम भी आया'* तक उन्होंने व्यक्ति-सम्बन्धों के अनेक आयाम अपनी कविताओं में दिये हैं, जो आज देश और विदेश के हिन्दी प्रेमियों के कण्ठहार हैं। राजनीतिक चेतना को वे अपने रचना-संसार से प्रायः दूर ही रखते रहे। लेकिन

आपात्काल के समय जब अभिव्यक्ति पर अंकुश लगा दिया गया, तो सरकारी संस्थान में काम करते हुए भी उन्होंने सन्नाटे के बाद के विप्लव का संकेत देनेवाला एक गीत न केवल लिखा, बल्कि डंके की चोट अनेक मंचों से सुनाया :

"नदी बड़ी गहरी है
पता नहीं क्या होगा ?

सहमे-सहमे लोग खड़े हैं
दोनों ओर किनारों पर
कुछ की नज़रें नीचे को हैं
कुछ की चाँद सितारों पर
आँधी कहीं ठहरी है
पता नहीं क्या होगा ?"

'पता नहीं क्या होगा' कहनेवाले रमानाथ जी को भी पता था और पढ़नेवालों को भी कि यह अचानक आपात्काल से सहमा हुआ जनसमूह ठहरी हुई आँधी के बगटुट छूटने पर तूफ़ान बनकर क्या गुल खिलायेगा ? गीत अपना धर्म यों ही निभाता है। वह अपनी संश्लिष्टता में सिर्फ़ संकेत देता है। क्रान्ति की फ़सल नहीं खड़ी करता, बीज बोता है। सामाजिक चेतना की आधारभूमि तैयार करता है और बख़ूबी जानकर यह काम करता है। खुलकर कहता है :

"इस सदन में मैं अकेला हो दिया हूँ
मत बुझाओ
जब मिलेगी रोशनी मुझसे मिलेगी।" (रामावतार त्यागी)

o

गीत की इन तमाम पंक्तियों को लोककण्ठ में बसकर जितना प्रसार और प्रशंसा मिली है, उतना शायद प्रकाशित होकर नहीं। गीत की समृद्ध मौखिक परम्परा है। इस मौखिक परम्परा में कवि सम्मेलन नाम की संस्था का बड़ा योगदान रहा है। इस संस्था का मान इसमें हिन्दी की हर युगधारा के महान् कवियों के सम्मिलित होने से बढ़ा है। निराला, पन्त, महादेवी से लेकर परवर्ती कवियों में रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', जगदम्बा प्रसाद मिश्र 'हितैषी', हरिश्चन्द्र देव वर्मा 'चातक', चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा', विद्यावती कोकिल, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, दिनकर, जानकीवल्लभ शास्त्री, सुमन, साही, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, रघुवीर सहाय, नागार्जुन, नरेश मेहता, नेपाली, त्रिलोचन, रामदरश मिश्र, भवानी प्रसाद मिश्र, शम्भुनाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह, श्रीपाल सिंह 'क्षेम', बलबीर सिंह 'रंग', श्यामनारायण पाण्डेय, रूपनारायण त्रिपाठी, बाल कवि बैरागी, प्रभा ठाकुर, शिशुपाल सिंह 'शिशु', गोपालदास नीरज, मेघराज मुकुल, मुकुट बिहारी सरोज, रमानाथ अवस्थी, शिव बहादुर सिंह भदौरिया, राजनारायण बिसारिया, चन्द्र देव सिंह, रामावतार त्यागी, बालस्वरूप राही, शेरजंग गर्ग, रामानन्द दोषी, सोम ठाकुर, सत्यनारायण, माहेश्वर तिवारी, विनोद निगम, सरोज कुमार, आत्मप्रकाश शुक्ल, नईम,

बुद्धिनाथ मिश्र, ठाकुर प्रसाद सिंह, कन्हैयालाल नन्दन, इन्दु जैन, अजित कुमार, कुँवर बेचैन, रमा सिंह, इंदिरा गौड़, श्रीकृष्ण तिवारी, शतदल, किशन सरोज, सूर्यकुमार पाण्डेय, यश मालवीय, कैलाश गौतम, अवध बिहारी श्रीवास्तव...गरज़ कि हर काल-खण्ड और विचारधारा का कवि कवि-सम्मेलन के माध्यम से अपने श्रोता से सीधे मुख़ातिब होता रहा है। प्रेमशंकर का कहना है कि "रचनाकार किसी भी स्थिति में विक्रेता नहीं है। मैंने वह ज़माना देखा है जब कवि सम्मेलनों में कविता पढ़ना किसी भी कवि के लिए श्रेयस्कर बात मानी जाती थी। साहित्य का आदिम रूप गेय और सामुदायिक श्रवण का ही रहा है और श्रुति-स्मृति का अंग बनकर ही वह हमारे जातीय सांस्कृतिक ढाँचे का हिस्सा बन सका है। हिन्दी का समग्र आदिकालीन और मध्ययुगीन साहित्य 'पठनीय' से अधिक 'श्रवणीय' था। आदिकालीन आल्हा हो या भक्तियुगीन 'साखी', *रामचरितमानस* अथवा अष्टछापी सन्तों के पद या रीतियुगीन शृंगारपरक रचनाएँ, क़रीब सभी के सभी किसी सामान्य या विशिष्ट श्रोता-समुदाय को दृष्टि में रखकर ही रचे गये थे। अपने श्रोताओं की प्रतिक्रिया का रचनाकार पर प्रभाव भी अवश्य पड़ता था। रसिकजनों से सम्मान और सराहना पाना रचनाकार के लिए गौरव का विषय माना जाता था।"

धीरे-धीरे कवि और पाठक अथवा श्रोता के बीच रिश्तों में बदलाव आता गया, किन्तु आमतौर पर हमेशा यह माना जाता रहा कि जनमानस की प्रकृति गीतात्मकता को जल्दी पकड़ती है। लेकिन यह भी एक कड़वा सच है कि अब हिन्दी में गीतकारों को साहित्येतिहास के हाशिये पर फेंकने के लिए उन्हें 'कवि सम्मेलनी' या 'मंचीय' गीतकवि का लेबल चस्पां करके पंचम वर्ण में अनुसूचित कर दिया जाता है। इसी सच का दूसरा पहलू यह भी है कि कवि सम्मेलनी मंच का कविता के प्रचार-प्रसार में कितना ही महत्त्वपूर्ण योगदान क्यों न रहा हो, उसने हिन्दी कविता का अहित भी कम नहीं किया। समर्थ गीत कवि एवं समीक्षक उपेन्द्र ने अपनी पुस्तक *हिन्दी गीत और गीतकार* में इस पर ख़ासी लम्बी टिप्पणी की है :

> "उसकी बुराइयों में एक बड़ी बुराई यह कही जा सकती है कि उसने विशिष्ट कोटि के ऐसे अनेक गीतकार कवियों को अपने से दूर कर दिया, जिनके पास व्यक्तित्व और कर्त्तव्य का ऊपरी ताम-झाम नहीं, पर भीतर की सच्ची चमक, तेजस्विता कम नहीं थी और जो अपने साहित्यिक गाम्भीर्य की क़ीमत पर 'ताली-पीटू' असंस्कारी श्रोताओं की दाद लेने को तैयार नहीं थे और जो मंच पर जमने-जमवाने के गुर, प्रतिस्पर्धियों को उखड़वा देने के हथकंडे सीख नहीं सके थे। उनके पास हिन्दी की उस विशद गम्भीर काव्य परम्परा की विरासत थी, जिसमें चमत्कृति की बजाय भावना की गहराई और विचार की परिपक्वता पर बल हुआ करता था। ऐसे सत्कवियों ने ऊबकर, जब कवि-सम्मेलनों के साथ मुशायरों को जोड़ने की ग़लत परम्परा को प्रोत्साहन मिला, तो कवि सम्मेलनों में जाना बन्द कर दिया, क्योंकि उर्दू के कवियों के पास दरबारी संस्कृति से सुवासित महफ़िल लूट लेनेवाला मसाला ख़ूब था, इसलिए हिन्दी गीत के कवि अखाड़े में कमज़ोर पड़ने लगे। जब कवियों ने अपने को उखड़ता हुआ देखा, तो तुरन्त पैंतरा

बदला और शायरों के 'पैटर्न' पर वे भी ग़ज़ल और रुबाई लिखने लगे। उर्दू के छन्द न हिन्दी की प्रकृति और न संस्कृति के ही अनुकूल थे इसलिए ग़ज़ल और रूबाई में सफलता बहुत थोड़े ही लोगों को मिली।...शेष की रचनाएँ, दोयम दर्जे की—सेंकेंड रेट' ही कही जाएँगी। श्रोताओं की सुरुचि सँवारने, उनका सौंदर्य-बोध निखारने में विफल होती हुई मंचीय कविता धीरे-धीरे अपना प्रकृत स्वरूप और गाम्भीर्य खोने लगी। जिन कवियों पर श्रोताओं का स्तर उठाने की ज़िम्मेदारी थी, वे स्वयं अपनी ही कविता के स्तर की रक्षा नहीं कर सके और कालान्तर में वह दिन भी आ गया, जब कवि-सम्मेलन उनके हाथों से निकलकर विदूषकों, क़व्वालों और उर्दू शायरी के नक़्क़ालों के अशक्त हाथों में चले गये।''

उपेन्द्र जी की कवि-सम्मेलन की नियति पर की गयी इस विस्तृत टिप्पणी को मैंने इसलिए उद्धृत करना ज़रूरी समझा कि इसमें प्रस्तुत निष्कर्ष अनेकांश में सत्य भी हों तो कई अंशों में वे भ्रान्तिपूर्ण भी हैं और इस भ्रान्ति का निराकरण हिन्दी गीत-विधा के लिए भी श्रेयस्कर होगा। सबसे पहले यह बात समझकर चलने की है कि हर माध्यम की अपनी माँग होती है। आधुनिक दृश्य-श्रव्य संचार माध्यमों के बीच दिन-रात रह रहे सामाजिक को अनायास ही इस सत्य का ज्ञान हो जाता है। प्रबल संप्रेषण-क्षमता और कथ्य की सहज मार्मिकता और सुधी श्रोताओं की उपस्थिति किसी भी कवि-गोष्ठी की अनिवार्य शर्त होती है। इसलिए मंच पर सफल होने के लिए 'हथकंडे' और 'गुर' चाहिए और जो ऐसा नहीं कर पाते, वह असफल होते हैं, यहाँ तक तो बात में सत्यांश हो सकता है। लेकिन उसका विलोम पूरी तरह सत्य नहीं है कि असफल वे होते हैं, जिनमें सच्ची चमक और तेजस्विता होती है और जो 'साहित्यिक गाम्भीर्य' से परिपूर्ण होते हैं।

दूसरी यह प्रतिस्थापना भी भ्रामक है कि उर्दू शायरों की नक़ल पर हिन्दी में ग़ज़ल और रुबाई लिखी जाने लगी है। याद रहे उन्नीसवीं सदी तक उर्दू भाषा और काव्य का विकास हो चुका था और हिन्दी प्रदेश का प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति उर्दू का जानकार होता था। हिन्दी कवियों ने तभी से ग़ज़लों और नज़्मों की रचना की है या खड़ी बोली हिन्दी में उर्दू की बहरों में लावनी, मुसद्दस, रुबाई आदि शैलियों का इस्तेमाल किया है और यह परम्परा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही चली आती है। समसामयिक कवियों में से चन्द्रसेन विराट, श्रीहरि, उदयभानु 'हंस' और रूपनारायण त्रिपाठी जैसे दो-तीन नाम ही ले लिये जाएँ, तो उनके मुक्तक यह सिद्ध करने के लिए काफ़ी होंगे कि हिन्दी में यह काव्यधारा अपनी मौलिकता के साथ विचार और बिम्ब दोनों में उर्दू ही नहीं, अनेक भारतीय भाषाओं से भी आगे दीखती है। रूपनारायण त्रिपाठी के कुछ मुक्तक विषय-वैविध्य और बिम्ब की बारीकी की दृष्टि से द्रष्टव्य हैं :

''राग बजता है रंग बजता है
प्यार का अंग-अंग बजता है
आप हँसते हैं खिलखिलाकर तो,
रूप का जलतरंग बजता है।

O

दीप की लौ मचल रही होगी
रूह करवट बदल रही होगी
रात होगी तुम्हारी आँखों में
नींद बाहर टहल रही होगी।

O

एक था रंक एक राजा था
एक जलवायु में पले दोनों
मैंने देखा कि अंततोगत्वा
एक ही आग में जले दोनों।

O

जैसे कोई फ़क़ीर हो तनहा
जैसे कोई अधीर हो तनहा
ताड़ का पेड़ जैसे टीले पर
एक ग़म की लकीर हो तनहा।"

रूपनारायण जी ने जो कुछ लिखा, आम आदमी की भाषा में आम आदमी से जुड़कर लिखा। उस लेखन की विशेषता यह रही कि वह हिन्दी और उर्दू दोनों के रसज्ञों को समान रूप से आकर्षित करता रहा। उन्हें साहिर लुधियानवी ने एक बार मुम्बई आकर फ़िल्मों में लेखन के लिए आमन्त्रित किया। उन्होंने कविता में ही उन्हें लिख भेजा :

"मैं आ न सकूँगा वहाँ महलों के आसपास
मैं गा न सकूँगा वहाँ गमलों के आसपास
रहने दो मेरी वादिए-शादाब में मुझे
खेतों में महकती हुई फ़सलों के आसपास।"

रूपनारायण जी अकेले नहीं थे। उदयभानु 'हंस' की रुबाइयाँ सुनकर उर्दू के अदीबों के ज़ेहन में आज भी खुशी की सिहरन भर जाती है। उनकी रूप-माधुरी शृंखला की रुबाइयों में 'ताजमहल' की बानगी देखें कि :

"वह ताज नहीं, रूप की अँगड़ाई है
ग़ालिब की ग़ज़ल पत्थरों ने गायी है।
या चाँद की अलबेली दुल्हन चुपके से
यमुना में नहाने को उतर आयी है।"

मेरा अपना एक मुक्तक है :

"रूप की जब उजास लगती है
ज़िंदगी आसपास लगती है।
तुमसे मिलने की चाह कुछ ऐसे
जैसे ख़ुशबू को प्यास लगती है।"

ऐसे मुक्तकों को उर्दूवालों की मुक्त प्रशंसा मिलती रही है। श्रीहरि के मुक्तक सुनकर स्वयं उर्दू के स्वनामधन्य रचनाकार फिराक़ गोरखपुरी तक गद्‌गद् हो उठते थे। उनके मुक्तक देखें :

"हर क़दम इम्तहान लेता है
और हर साँस आज़माती है
मौत के होंठ चूमनेवाले,
जा तुझे ज़िन्दगी बुलाती है।

O

साँस हूँ साँस का तक़ाज़ा हूँ
वक़्त मेरे लिए सफ़र-सा है।
हर डगर बार-बार की देखी,
हर नगर यूँ कि एक घर-सा है।

O

नभ ने छाया की चलने को दो चरण मिले
धरती बोली : चलता चल दूर बहुत घर है
मानव का पथ है समय, कि जिसके सीने पर
हर गड़ा हुआ इतिहास मील का पत्थर है।

O

हर साँस उम्र है और हर क़दम मंज़िल है
ये उम्रें और मंज़िलें साथ लिये जाओ।
हर पल की अपनी दुनिया, अपनी रंगत है
जीवन भी क्या है बस, महसूस किये जाओ।

O

यह रक्त चूसती धग, शीश पर लदा व्योम
तू क्यों जीवन को व्यर्थ समझ कर रोता है ?
हर नयी पीर, हर नयी टीस, हर नयी कसक
हर नयी चीख़ का भी कुछ मतलब होता है।

O

आँसू की रेखाएँ पीड़ा की छायाएँ
भरते लोहू का रंग रुलाई आती है
क्या तुम्हें नहीं मालूम कि टूटे सपनों की
कुछ ऐसे ही तस्वीर बनायी जाती है।

मुक्तक ही नहीं, ग़ज़लों-रुबाइयों में भी हिन्दी की प्रकृति उर्दू से भिन्न मिलती है। दुष्यन्त की ग़ज़लों ने ग़ज़ल की समूची प्रकृति में समसामयिक जीवन और परिवेश भर कर ग़ज़ल की

मानों धारा ही मोड़ दी। इसलिए ग़ज़ल, रुबाई और मुक्तक के रचनाकार हिन्दी कवियों को उर्दू शायरों का नक़्क़ाल समझना सही नहीं होगा।

उपेन्द्र जी की टिप्पणी में विरोधाभास यह भी है कि वे तथाकथित कवि सम्मेलनीय 'सेकेंड रेट' कवियों से यह उम्मीद करते हैं कि वे श्रोताओं के साहित्यिक रसास्वादन का स्तर उठाएँगे। क्या अपनी 'तेजस्विता' और 'भव्य साहित्यिक विरासत' को सँजोकर रखने के लिए कवि सम्मेलन जैसे जमावड़े में शामिल न होकर अपने दिव्य साहित्य लोक में निवास करनेवाले गाम्भीर्यपूर्ण गीतकारों का यह दायित्व नहीं है कि वे अपने लिए उपयुक्त पाठक या श्रोता पाने के लिए दो क़दम आगे बढ़ें या काव्यमंचों पर उतरें ? असल में वास्तविकता इतनी भयावह नहीं है। न तो काव्यमंचीय कवि इतने बिकाऊ हैं और न ही श्रोता वर्ग इतना कुन्दज़हन है कि काँच के मोल हीरा बेच दे या काँच को ही हीरा समझ बैठे। उलटे हिन्दी गीत-जगत को इनमें से अधिकांश मंचीय गीतकारों का अनुगृहीत होना चाहिए कि उन्होंने हिन्दी गीतों को सिर्फ़ विश्वविद्यालयों की पाठ्यपुस्तकों में क़ैद न रखकर अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर प्रतिष्ठा दिलवाई है और इस प्रकार से हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ भारतीय संस्कृति का भी प्रतिनिधित्व किया है।

O

गीत ही नहीं, अगीत काव्य को भी श्रव्य माध्यम से प्रतिष्ठा दिलाने में कवि-सम्मेलन के मंच ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। अज्ञेय ने जब भी किसी कवि सम्मेलन की शोभा बढ़ायी, उसमें गीत भले ही नहीं पढ़ा, लेकिन उनकी कविता को उन्हीं कवि सम्मेलनी श्रोताओं ने आदर दिया और सराहा। दिल्ली का प्रख्यात श्रीराम कवि सम्मेलन इसकी साक्षात् पुष्टि कर सकता है। कुँवर नारायण गीत-कवि नहीं हैं, और न ही कवि सम्मेलन में जानेवाले कवियों में हैं, लेकिन उनकी कविता कवि सम्मेलन के श्रोताओं में भी उतनी ही आदरास्पद मानी जाती है, जितनी बौद्धिक रचनाकारों और श्रोताओं के बीच मान्य है। इन्दु जैन, सरोज कुमार, कुमार विकल, कन्हैयालाल नन्दन, अजित कुमार, विश्वनाथ सचदेव, हरीश भादानी गीतकवि के रूप में नहीं, कविता की अगीत धारा के रूप में कवि सम्मेलनों में आदरपूर्वक आमंत्रित किए जाते और सराहे जाते हैं। इसलिए कवि सम्मेलन को हेय और नकारात्मक दृष्टि से देखना स्वस्थ आकलन दृष्टि का परिचायक नहीं है। वस्तुतः कवि सम्मेलन के गाम्भीर्य को नष्ट करने की ज़िम्मेदारी जितनी हास्य-व्यंग्य के ग़ैरज़िम्मेदार हिन्दी कवियों ने निभाई है, उससे कम उन कवियों ने नहीं निभाई, जिन्होंने न जम पाने के डर से कवि सम्मेलन में जाना ही छोड़ दिया। वस्तुस्थिति यह है कि आज जो साहित्यिक स्तर किन्हीं अंशों में मंच पर बचा हुआ है, उसका श्रेय दिनकर, बच्चन और अंचल जैसे कवियों की परम्परा निभानेवाले शिवमंगल सिंह 'सुमन', भवानीप्रसाद मिश्र, रूपनारायण त्रिपाठी, रमानाथ अवस्थी, वीरेन्द्र मिश्र, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, शम्भुनाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह और भारत भूषण जैसे तमाम रचनाकारों को जाता है, जो मंचीय कवियों के रुचि-परिष्कार के लिए भी मानक रहे और श्रोताओं के लिए भी। आज भी कवि सम्मेलन के मंचों पर श्रेष्ठ गीतों के लिए श्रीपाल सिंह 'क्षेम', गोपालदास 'नीरज', रमानाथ अवस्थी,

वीरेन्द्र मिश्र, रामावतार त्यागी, शिव बहादुर सिंह भदौरिया, बालस्वरूप राही, मुकुट बिहारी सरोज, भारत भूषण, सोम ठाकुर, मधुर शास्त्री, शिशुपाल सिंह निर्धन, रामबहादुर सिंह भदौरिया, माहेश्वर तिवारी, श्रीकृष्ण तिवारी, किशन सरोज, प्रभा ठाकुर, बालकवि वैरागी, बेकल उत्साही, उदय प्रताप सिंह, बुद्धिनाथ मिश्र, नईम, अमरनाथ श्रीवास्तव, एहतराम इस्लाम, यश मालवीय, गोपीवल्लभ सहाय, दिनेश सिंह, सत्यनारायण, विजय किशोर मानव, कैलाश गौतम, सूर्यभानु गुप्त, अवध बिहारी श्रीवास्तव, वीरेन्द्र आस्तिक, इन्दिरा गौड़, विनोद श्रीवास्तव...आदि नाम बड़े आदर के साथ लिए जाते हैं और श्रोताओं को उनमें कथ्य और भाषा की नई दिशाएँ खुलती देखने को मिलती हैं। नाम गिनाना यहाँ मुख्य उद्देश्य न होते हुए भी कवि सम्मेलनों में गीत की साहित्यिक क्षमताओं को समर्थ ढंग से प्रस्तुत करनेवालों में बलबीर सिंह रंग, मधुर शास्त्री, राममनोहर त्रिपाठी, विष्णुकुमार त्रिपाठी 'राकेश', माधव मधुकर, रामस्वरूप सिंदूर, देवीप्रसाद शुक्ल 'राही', उपेन्द्र, नीलम श्रीवास्तव, पारस भ्रमर, हरिराम द्विवेदी, शेरजंग गर्ग, मधुकर गौड़, शिवबहादुर सिंह भदौरिया प्रभृत गीतकारों की लम्बी सूची है, जो परम्परा से ऊर्जा लेते हुए नई काव्यभूमि में समय की धड़कनों को व्यक्त करते रहे। इन तमाम कवियों ने सस्तेपन से कविता में कभी समझौता नहीं किया, इसके बावजूद कवि सम्मेलन में श्रोताओं की सराहना पा जाने वाले कवियों को ख़ासकर गीतकार को 'विदूषक', 'भाँड' और 'गवैया' जैसी नकारात्मक संज्ञाओं से अभिहित करने के संकेत यह भी बताते रहे हैं कि इनके पीछे आंशिक रूप से, चिलम न मिलने का आक्रोश भी रहा है। मगर सबसे बड़ा कारण यह रहा कि जैसे-जैसे छंद-लयशून्य और कभी-कभी कविता-शून्य अबूझ रचनाओं को साहित्य की 'मुख्य धारा' मानने का फ़तवा सहित्य जगत में घोषित होता गया, लोकरंजकता और लोकपिय्रता को असाहित्यिक माना गया। नाम तो तमाम प्रतिष्ठित कवियों के मंचों पर परम आदर के साथ लिए जाते हैं। यह अलग बात है कि वे काव्य मंचों पर कविता सुनाने से अब यथासंभव बचते हैं और कवि सम्मेलन की 'ताली पिटवाऊ फिज़ा' से परहेज़ करते हैं।

कवि सम्मेलन से लगभग एकाकार हो गए कवियों में जिनका नाम सबसे ज़्यादा लिया जाता है, उनमें गोपाल दास 'नीरज' का नाम सर्वोपरि है। नीरज ने कवि सम्मेलनों को ही अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया और प्राध्यापकी छोड़कर उन्हें ही अपनी रोज़ी-रोटी बना ली। 'कारवाँ गुज़र गया गुबार देखते रहे' और 'देखती ही न दर्पन रहो प्राण तुम, प्यार का यह मुहूरत निकल जायेगा' से लेकर राष्ट्र-चेतना और दार्शनिकता से भरे गीतों तक वे आज भी अपने स्वर से 'कवि सम्मेलन के बादशाह' हैं। वीरेन्द्र मिश्र ने गीत में शिल्प और भाषा दोनों में नए प्रयोग किए और श्रोताओं में गीतों के प्रति बारीक समझ जागृत करने और काव्यमंचों में स्तरीयता के निखार के साथ कवियों के फ़ैन क्लब बनाने तक की एक मुहिम जैसी उन्होंने शुरू की थी और एक संस्था बनाई थी, जिसको नाम दिया था 'सान्ध्य मित्रा'। उनका कहना था कि "आज जबकि फैन क्लब बनने लगे हैं, हमारे चाहनेवालों की भी संख्या कम नहीं हैं, हम गीत को पूरी गरिमा और मर्यादा के साथ जीते और गाते हैं, तो हमें संघटित होकर गीत के प्रचार-प्रसार के प्रति भी जागरूक रहना चाहिए। यदि इस ओर गीतकारों का

ध्यान जाता है, तो यूरोपीय लेखकों की भाँति वे भी साधन सम्पन्न और आर्थिक रूप से सुदृढ़ हो सकते हैं।" उनका विचार था कि गीत के प्रचार-प्रसार के लिए आधुनिक तक्नालाजी से सम्पन्न दृश्य-श्रव्य माध्यमों का उपयोग किया जाए। कवियों के काव्यपाठ के ऑडियो और वीडियो कैसेट बनें और उन्हें व्यावसायिक दृष्टि से 'मार्केट' किया जाए। दृश्य-माध्यम में इस दिशा में दूरदर्शन पर कुबेर दत्त ने कविता को स्वर के साथ-साथ चाक्षुष सौन्दर्य से सजाकर पेश करने के अनुपम प्रयोग किए। श्रव्य माध्यम में कतिपय सुप्रसिद्ध गीतकारों के ऑडियो टेप बनवाने और उन्हें वीनस कंपनी के द्वारा जन-जन तक न्यूनतम क़ीमत में पहुँचाने का काम मुम्बई के संवेदनशील रचनाकार पंडित किरण मिश्र ने किया। इन टेप्स को सुनकर हिन्दी गीत की अद्यतन धारा, समसामयिक दृष्टि और उसके मुहावरे का साफ़ पता लगता है।

O

गीत के विकास के नव्यतम चरण तक पहुँचने और उसे समझने के लिए गीत सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों और कुछेक नामों का, जिनका इस विकास-क्रम में महत्त्वपूर्ण योगदान है, उल्लेख करना ज़रूरी लगता है। सन् 1950 के आसपास से ही हिन्दी गीत एक परिवर्तन का आभास दे रहा था। निराला के परवर्ती गीतों में इसके संकेत दिखाई देने लगे थे। इन्हीं संकेतों का अगला चरण 'नयी कविता' में परिलक्षित हुआ और गीत विधा में उस नयी चेतना की अभिव्यक्ति को 'नवगीत' कहा गया। निराला दोनों के ही प्रेरणा बिन्दु रहे। 'नवगीत' नाम देने का श्रेय राजेंद्र प्रसाद सिंह को दिया जाता है। उनका कहना था कि "मैंने गीतों की संभावना को काल, प्रवृत्ति और शिल्प की ऐकांकित सीमा में बाँधना चाहा था, तभी नवगीत की संज्ञा दी। नयी कविता के कवियों द्वारा प्रस्तुत गीत, पिछली पीढ़ी के परवर्ती और ईषत् भिन्न गीत और छायावादोत्तर गीतकारों के नवायोजित गीत कोई श्रेणिक नाम नहीं पा सके थे। साथ ही, नयी पीढ़ी के गीतकार भी अपने सहज नूतन गीतों के लिए ऐसे नाम खोज रहे थे...अंततः 'नवगीत' संज्ञा ही सर्वाधिक उचित प्रतीत हुई।"

राजेंद्र प्रसाद सिंह ने अपने द्वारा सम्पादित *गीतांगिनी* में 1958 में हिन्दी गीत के बदलते हुए तेवर, तर्ज और मुहावरे को नवगीत की सम्भाव्य परिणति के रूप में देखा था। इसके बाद महेंद्र शंकर ने, जो स्वयं अच्छे गीतकार थे, अपने सम्पादन में 'वासन्ती' के अंकों में गीत के बदलते हुए रूप को क्रमवार प्रकाशित किया और नवगीत की स्थापना में मदद की। 1964 में ओम प्रभाकर ने *कविता : 64* नाम से एक सम्पादित संकलन निकाला जिसे नवगीत के प्रथम समवेत संकलन के रूप में देखा गया और उसमें नवगीत के उत्स को निराला और उनके परवर्ती गीतों में ढूँढ़ा गया। इसे नवगीत का स्थापना-संकलन भी कहा जा सकता है। बाद में शम्भुनाथ सिंह के तीनों नवगीत दशकों को (सन् 1982, 83 और 1984) दस-दस नवगीतकारों को लेकर आने में बीस साल लगे, जो नवगीत के संघर्ष और पहचान के वर्ष हैं। तब से लेकर शताब्दी के अंतिम क्षणों तक नवगीत का जो स्थापित मुहावरा सामने आया है, वह ओम प्रभाकर की बात की बाक़ायदा पुष्टि करता है। उन्होंने नवगीत की आन्तरिक बुनावट और उसकी सैद्धान्तिक संरचना को अपने शब्दों में यों उकेरा था : "नवगीत न केवल लोक गीतात्मक

रचना है और न केवल नगर-बोध की कविता है, बल्कि सम्पूर्ण जीवन के लघु लक्ष्यों की कविता है। नवगीत संगीत, लय, छन्द, तुक और ताल की समस्त पारम्परिक रूढ़ियों से मुक्त होता हुआ भी उसकी मूलधारा से जुड़ा हुआ है। नवगीत का कवि एक ही समय में प्रतिबद्ध और तटस्थ दोनों है। उसकी प्रतिबद्धता केवल अपने परिवेश और वास्तविक अनुभूति के प्रति है और वह तटस्थ है काव्य रचना के प्रति, किसी भी प्रकार के विशिष्ट आग्रह से। वह मतवाद विशेष के प्रति तटस्थ है। वह तटस्थ है काव्य भाषा के रूप विशेष के प्रति। ...(नवगीत के कवि) परम्परा के श्रेष्ठत्व को स्वीकारते हुए उसके विद्यमान और परिवर्तित रूप को ग्रहण करते हैं, लेकिन ये कवि परम्परावादी नहीं हैं। नवगीत की दृष्टि में जीवन की सम्पूर्णता है, उसका कोई एक पक्ष या अंग विशेष नहीं। वे उसमें संगीत और लय को अनिवार्य मानते हैं, लेकिन उतने ही अनुपात में जितना कविता के लिए ज़रूरी हो।''

ओम प्रभाकर की यह टिप्पणी नवगीत को अन्तर-बाह्य हर रूप में समझने में बड़ी सहायक है। यह नवगीत की सैद्धान्तिक अवधारणा का खाका था। नवगीत का बाद के दिनों में जो रेला आया, उसने 'नयी कविता' के समय प्रचारित गीत की 'दोयम दर्जे की नागरिकता' को समाप्त करने के लिए गम्भीरता से प्रयास किए। प्रारम्भिक प्रयासों में उमाकान्त मालवीय ने नयी कविता के दिनों में ही 'परिमल' के अखाड़ियों के बीच गीत के लिए नयी भाषिक ज़मीन तलाशी और जीवन की विडम्बनापूर्ण स्थितियों के रेखांकन के लिए 'अन्धों के नगर में कजरौटों की सौदागरी' का मुहावरा दिया। रमानाथ अवस्थी ने अपनी सहज बहती रोज़मर्रा की भाषा में मानवीय अस्मिता को सर्वोपरि बनाते हुए मन की आन्तरिक पहचान को अभिव्यक्ति दी : 'भेदभाव नहीं किया शूल या सुमन से/पाप पुण्य जो भी किया, किया पूरे मन से।' उनके समकालीनों में वीरेन्द्र मिश्र का नाम हिन्दी गीत के लिए नयी ज़मीन तोड़नेवाला एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण नाम माना जाता है। कथ्य, शिल्प, छन्द और भाषा का जैसा और जितना रचनात्मक इस्तेमाल वीरेंद्र मिश्र ने किया है, वह गीत की ताक़त पर उँगली उठानेवालों के लिए एक चुनौती है। गीतकार सत्यनारायण ने 'ज्योत्स्ना' पत्रिका में वीरेंद्र मिश्र की स्मृति में लिखा था कि घर-आँगन, पास-पड़ोस, समय-समाज, देश-दुनिया क्या नहीं है उनके रचना-संसार में।'' कथ्य की दृष्टि से ही नहीं, वीरेंद्र जी ने गीत के लिए छन्दों के नये-नये प्रयोग सामने रखे। वीरेन्द्र मिश्र ने अपने गीत-प्रयोगों में अगर लोक रंग से परहेज़ किया था, तो शिवबहादुर सिंह भदौरिया ने अपने गीतों में प्रकृति और लोक-संस्कृति के सम्बन्धों की एक नयी पहचान दी। उनका गीत 'पुरवा जो डोल गयी' इसका सबसे बड़ा प्रतिमान है :

''खनक चूड़ियों की सुनी मेंहदी के पातों ने
कलियों में रँग फेरा मालिन की बातों ने
धानों के खेतों में गीतों का पहरा है
चिड़ियों की आँखों में ममता का सहरा है
नदियों से उमक उमक
मछली वह छमक छमक

पानी की चूनर को दुनिया से मोल गयी
पुरवा जो डोल गयी।"

इस गीत के माध्यम से शिवबहादुर सिंह भदौरिया की समूची रचनाशीलता का एक अक्स खींचते हुए समीक्षक ओमप्रकाश अवस्थी ने लिखा था : "ग्राम्य जीवन की आस्थाएँ, देवी-देवताओं के विश्वास, घटाओं का जूड़े-सा खुलना, पावस ऋतु में परदेशी की वापसी, चूड़ियों की खनक, धानों के गीत, चिड़ियों का मातृत्व, मछली का दमकना, झूले के झूमक, केले-सी रानें, साड़ी की गोटा किनारी के सनई के फूल—सब कुछ नायिकाओं का है, लेकिन यह नायिका इतनी विराट है कि सम्पूर्ण प्रकृति के पावस काल को अपने में समेट लेती है और एक चली आती इतिवृत्तात्मक रूप-चित्रण की परम्परा को, नए ढंग से, नए रूप में नई सज-धज से, प्रस्तुत करती है।"

लेकिन लोक जीवन और विशेषकर एक अंचल विशेष के लोकजीवन को लोकचेतना की चरम परिणति तक पहुँचाने का जो काम ठाकुर प्रसाद सिंह के गीतों ने किया और जिस भाषा में किया उसने संथाल जीवन के पिछड़ेपन को संवेदना की नयी समृद्धि तो दी ही, परवर्ती गीत काव्य के लिए नया प्रस्थान-बिन्दु भी बनाया। उन्होंने गीत की कई पदों में सम्पूर्ण होने की प्रचलित परम्परा को एकपदीय गीत लिखकर तोड़ा। कुछ गीत तो उन्होंने आधे पद के भी लिखे। टेकविहीन गीत लिखकर भी प्रचलित गीत परम्परा को झटका दिया, मात्राओं की घट-बढ़ की, छन्दों का सम्मिश्रण करके एक ही गीत में कई छन्दों का प्रयोग किया। संवेदना के स्तर पर नए और अछूते चित्र और बिम्ब दिए। पाँच जोड़ बाँसुरी देखें—

"वंशी-स्वर उमड़-घुमड़ रो रहा,
मन उठ चलने को हो रहा
धीरज की गाँठ खुली लो, लेकिन
आधे अँचरा पर पिय सो रहा
मन मेरा तोड़ रहा पाँसुरी
पाँच जोड़ बाँसुरी।

पर्वत के पार से बजाते तुम बाँसुरी
वासन्ती रात के निर्मल पल आख़िरी
बेसुध पल आख़िरी
विह्वल पल आख़िरी।"

गीत की इस प्रयोगात्मक पहल के लिए उनका संग्रह *वंशी और मादल* अज्ञेय जी जैसे नयी कविता में प्रयोगों के हामी रचनाकार का ध्यान भी आकर्षित करने में सक्षम सिद्ध हुआ था। ठाकुर प्रसाद सिंह के शब्दों में, "सन् 1951 में पहली बार मेरे कुछ गीत प्रकाश में आए, तब उनमें श्री अज्ञेय को हिन्दी कविता के नए वातायन खुलते दीख पड़े थे। मैं उस समय अपने ही दुहराव से भयभीत था और किसी नए उद्वेग की खोज में था। उस समय मेरे और साथी

इस जड़ता से त्रस्त होकर पश्चिम की ओर चले गये और मुझे परिस्थितियाँ पूरब के आदिवासियों के देश में धकेल ले गईं। लोकजीवन से अभिव्यंजना का गीतात्मक माध्यम ग्रहण करने की जिस प्रवृत्ति से कविता प्रयोग का खेल और पश्चिम का अनुकरण करने से बच गई, उसी ने मेरी इन कविताओं के भीतर प्रेरणा का कार्य किया है।''

चंद्रदेव सिंह ने तो जब सन् 1969 में गीत का संकलन सम्पादित किया, तो उसका नाम ही ठाकुर प्रसाद सिंह के इन्हीं गीतों की एक गीत-पंक्ति पर रखा था—*पाँच जोड़ बाँसुरी।* इसका प्रकाशन आधुनिक हिंन्दी गीत-यात्रा का एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव था, जिसमें निराला से लेकर नरेश सक्सेना तक गीत अपनी सामाजिक पहचान के साथ उपस्थित हुआ था। छायावाद से लेकर नवगीत तक गीत की प्रयोगात्मकता को चंद्रदेव सिंह ने यों अंकित किया था : ''जब कविवर श्री सुमित्रानंदन पंत ने 'वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार' द्वारा कथ्य की प्रेषणीयता के लिए अलंकारों की निरर्थकता प्रकट की थी, उसी अवधि में महाकवि 'निराला' ने 'छोड़ छन्दों की छोटी राह' अनुभूतियों के स्वाभाविक अभिव्यंजन की ओर संकेत किया था। 'नवगीत' इसी दूसरे प्रयोग-प्रयास की परंपरा का एक मोड़ है।'' उनका मानना था कि नया गीतकार न तो छायावाद के 'महामानव' की खोज में है और न ही नयी कविता के 'लघु मानव' से अपना मानसिक सामंजस्य स्थापित कर पाता है। वह युग जीवन के सहभोक्ता और संवेदनशील व्यक्ति की भूमिका अदा करना चाहता है। नवगीत के आंदोलन को स्वर और धार देनेवाले रचनाकारों की पीढ़ी चंद्रदेव सिंह की इस अवधारणा से आलोकित और रेखांकित होती रही है। चन्द्रदेव सिंह ने ठाकुर प्रसाद सिंह के पहले और निराला के बाद के गीत के सफल प्रयोगकर्ता के रूप में बच्चन जी को माना। और देखें तो गोपाल सिंह नेपाली के गीतों में छायावाद की भाषा आकाश से ज़मीन पर ज़रूर उतरी थी, लेकिन कथ्य तब भी आसमान और आसमान के पार किसी शून्य में ठहरा हुआ था और उस पार की कौंधी हुई बिजली की चमक से इस पार का आँगन झलकता हुआ देख रहा था :

''उस पार कहीं बिजली चमकी होगी
जो झलक उठा है मेरा भी आँगन
उस पार कहीं छाए होंगे बादल
जो भर-भर आए मेरे भी लोचन।'' (नेपाली)

मगर बच्चन जी के गीतों ने भाषा को ही जिन्दगी के नज़दीक लाने का प्रयास नहीं किया, बल्कि कथ्य की भावात्मक वायवीयता को ज़मीन पर ले आने की महती भूमिका अदा की। टेक, छन्द और अनुभूति की दृष्टि से गीत को नई दिशा मिली। चंद्रदेव सिंह की टिप्पणी है कि 'छायावाद के 'प्रिय', 'प्रियतम', 'सजनी' और 'साजन' के सम्बोधन बच्चन जी के निकट 'साथी' और 'संगिनि' के रूप में बदल गए।' उन्होंने सम्बोधन के परिवर्तन में तत्कालीन गीतकार की समूची मनःस्थिति का परिवर्तन देखा। यही परिवर्तन है जिसने छायावादोत्तर गीत को नई भावभूमि और नया धरातल प्रदान किया था जिसे बच्चन जी की पीढ़ी के गीतकारों ने भी

सँवारा और उसके बाद गिरिजा कुमार माथुर आदि की पीढ़ी ने भी। गिरिजाकुमार माथुर के गीतों के भाव क्षेत्र में लोकगन्ध भी जुड़ गयी और गीत बहुरंगी होकर अपने को नवता से सजा सका। माथुर साहब के गीतों का यह बहुरंगी स्वरूप उनके साथ आगे आ रहे युवाओं को अत्यधिक आकर्षित करता रहा और उसने भाषा तथा भाव दोनों में नई ज़मीनें तोड़ने को प्रेरित किया। कैलाश वाजपेयी का गीत 'यह अधनंगी शाम/और ये भटका हुआ अकेलापन' इसका एक उदाहरण है।

पाँच जोड़ बाँसुरी की तर्ज़ पर गीत के कुछ और संकलन—मधुकर गौड़ सम्पादित *गीत और गीत,* रूपनारायण स्मृति संस्थान, जौनपुर का *शब्द मेघ,* वीरेन्द्र 'आस्तिक' का *धार पर हम* और शम्भुनाथ सिंह का *नवगीत अर्धशती*—गीत की संरचना और नवगीतकारों की पहचान के लिए विशेष उल्लेखनीय माने जाते हैं, जिनमें *धार पर हम* की भूमिका ने नवगीत की व्याख्या के लिए विचारणीय व्यवस्थाएँ दीं। 'आस्तिक' ने अपनी उस भूमिका में गीत को वेदों के भाषाकार उद्‌गाता से लेकर उत्तर आधुनिकता की माँग के आईने तक में जाँचा-परखा है और अपनी निष्कर्षात्मक टिप्पणी दी कि "भाषा-शैली की दृष्टि से शिल्पगत नवीन चित्रात्मकता, सुस्पष्ट संक्षिप्तता, शिष्ट व्यंग्यात्मकता और कथ्य की दृष्टि से जिए हुए यथार्थों के साक्ष्य आंचलिकता, चिन्तनपरकता, मिथकीयता और संवादशीलता आदि सभी कुछ आज के गीतों में हैं।"

O

नवगीत आंदोलन को अपनी समूची ऊर्जा और आशीर्वाद प्रदान किया शम्भुनाथ सिंह, ने, जो 'समय की शिला पर मधुर चित्र' बनाते-बनाते शब्द और स्वर के साथ सजग अनुभूति के होते हुए भी लय के न होने के विक्षोभ तक पहुंचे और *नवगीत दशक* के तीन खंड निकालकर नवगीतकारों के 'पुण्य पुरुष' बन गए। नवगीत के लिए वे वकील भी बने, आलोचक भी; साथ ही उन्होंने नयी प्रतिभाओं के प्रक्षेपण की अपनी ज़िम्मेदारी भी निभाई। शम्भुनाथ सिंह ने अपनी रचनाशीलता में नया मोड़ देकर नवगीत को विधा के रूप में प्रतिष्ठापित करने में अपनी वैतालिक भूमिका के साथ आदर्श प्रस्तुत करते हुए नवगीत भी लिखे—

"कट गएं हैं पर
अगम इस शून्य में
उल्का सदृश गिरते हुए मुझको
कहीं आश्रय नहीं है
थम गए हैं क्षण, दुसह क्षण
अंतहीन, अछोर निरवधि काल के
फिर भी मुझे कुछ भय नहीं है
एक ही परिताप प्राणों में
सहज अनुभूति
पर क्यों लय नहीं है।"

शम्भुनाथ सिंह की यह गीतधारा उनके पाठकों के बीच वह स्थान भले न पा सकी, जो उनकी

पूर्ववर्ती रचनाओं को मिल चुका था, लेकिन वे बग़ैर इसकी परवाह किए अपने अन्तिम दिनों के अन्तिम क्षणों तक भी नवगीत की सफलता और उसकी पहचान के लिए लगातार संघर्ष करते पाए गए। *नवगीत अर्धशती* उनके संघर्ष को एक आकार-सा देता संग्रह है जो गीत की नव्यतम विधा 'नवगीत' को महत्त्वपूर्ण ढंग से रेखांकित करता है।

इन समवेत गीत संकलनों के साथ-साथ दर्ज़नों नवगीतकारों के निजी संकलन भी गीत के नए कलेवर और उसकी आत्मा में आये बदलाव को रेखांकित करने के लिए प्रकाश में आते रहे हैं और उनमें गीत हमेशा अपने समय और समाज को नए-नए मुहावरों में वाणी देता रहा है। गीत का यही नया मुहावरा 'नवगीत' की पहचान बनकर उभरता रहा है। इस मुहावरे को प्रकाश में लाने और उसे प्रतिष्ठित करने में अनेकानेक पत्र-पत्रिकाओं का भी कम हाथ नहीं रहा। धर्मयुग में चलायी गई सातवें दशक की नवगीत धारा का ज़िक्र मैं धर्मवीर भारती जी के सन्दर्भ में पहले कर चुका हूँ। अन्य पत्र-पत्रिकाओं में *साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ज्ञानोदय, ज्योत्स्ना, आजकल, कल्पना, लय, मूल्यांकन, सम्बोधन, वासन्ती, नीरा, नयी धारा, राष्ट्रवाणी, साहित्य परिचय, वातायन, अभिज्ञानम्* आदि गीत को आगे बढ़ाने में सहायक रहीं। इनमें से अनेक पत्रिकाओं का प्रकाशन अब बंद हो चुका है। गाज़ियाबाद से कुँवर बेचैन के सम्पादन में निकलनेवाली गीत की लघुपत्रिका *सुर संकेत* हिन्दी गीत को अद्यतन रूप में प्रस्तुत करने में अपनी भूमिका निभाते हुए सामने आ रही है, मगर बीती शताब्दी के अन्तिम दिनों में तिलोई (रायबरेली) से दिनेश सिंह के सम्पादन में निकलनेवाले गीत संचयन 'नये-पुराने' ने गीत के सन्दर्भ में जो सामग्री अपने अब तक के छह अंकों में दी है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं रही। गीत के सर्वांगीण विवेचन का जितना सन्तुलित प्रयास 'नये-पुराने' में हुआ है, वह गीत के शोध को एक नई दिशा प्रदान करता है। गीत के अद्यतन रूप में हो रही रचनात्मकता की बानगी भी 'नये-पुराने' में है और गीत, ख़ासकर नवगीत में फैलती जा रही असंयत दुरूहता की मलामत भी। दिनेश सिंह स्वयं न केवल एक समर्थ नवगीत हस्ताक्षर हैं, बल्कि गीत विधा के गहरे समीक्षक भी। उनकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ गीत के समुचित भावगत विकास का इतिहास भी प्रस्तुत करती हैं और उन तमाम आक्षेपों का सटीक उत्तर भी देती हैं, जो गीत की सीमाओं के सन्दर्भ में टाँके जाते रहे हैं या रहते हैं। उनकी इन टिप्पणियों में गीत को नवगीत से अतिगीत की तरफ़ घसीट ले जानेवाले प्रयोगों और भाषा तथा मुहावरे के दुहराव की नीरसता या अटपटेपन से आगाह करनेवाले स्वर भी हैं। हिन्दी गीत पर शोध करनेवाले किसी भी शोधार्थी के लिए यह प्रकाशन एक अनिवार्य संचयन-क्रम है।

'नये-पुराने' के पहले संचयन में ही उन्होंने गीत में पारम्परिक गीत और नवगीत के दोमुँहों का ज़िक्र करके अपना मन्तव्य सामने रखते हुए कहा, "अपने-अपने तर्कों के ढकोसलों से आच्छादित बेमानी बहस मुबाहसों की एक अपरिचित नयी दुनिया रचायी-बसायी जा रही है।" गीत के दो ध्रुवान्तों की बहसों की निस्सारता का आभास उनकी रचनात्मक समीक्षा-दृष्टि का परिचय देता है, जिसमें "गीत अपनी माटी के पृष्ठ पर अंकित 'समक्ष' का दस्तावेज़ है। एक विवेचनात्मक दृष्टि है उसके पास, जो जितनी इतिहासपरक और देशज है, उतनी ही आधुनिक भी।"

आज संवेदनशीलता के समाप्त होते जाने के इस कठिन समय में गीत के योगदान को रेखांकित करते हुए उनके शब्द सोचने पर तो मजबूर करते ही हैं, गीत की नव्यतम धारा के रचनाकारों के दायित्व को भी उजागर करते हैं, "गीत तो सत्य का उद्घाटन भी करता है और सुसंगति के लिए हमें भावप्रवण भी बनाता है, जिससे उद्घाटित सत्य के नकारात्मक पक्ष को श्लथ करने के लिए विकल्प के तलाश की सामूहिक बेचैनी भी पैदा हो सके। आज के नवगीतकारों द्वारा ऐसे तमाम गीत रचे गए हैं, जो इस सामूहिक संवेदनहीनता के सत्य को उजागर भी करते हैं और पूरी अभिव्यक्ति से विद्रूप सत्य के ख़िलाफ़ संवेदनशील भी बनाते हैं।"

छायावाद युग में *पल्लव* की भूमिका से पन्त जी ने अपनी विधा का समीक्षक ख़ुद बनने की जो परम्परा डाली थी, उसी का निथरा हुआ रूप हैं दिनेश सिंह की ये सम्पादकीय टिप्पणियाँ, जो गीत-विधा की समुचित प्रतिष्ठापना के प्रयास में किसी अन्य काव्य विधा के प्रति नकार का दुराग्रह जीने से परहेज़ करती हैं। उनकी समीक्षा-दृष्टि यह मानती है कि हर रचना एक प्रयास है, वह अपनी विधा का आख़िरी सत्य नहीं है। वे कहते हैं, "सचिन के बैट से टकराई हुई हर गेंद न तो छक्का' ही अर्जित कर सकती है और न चूकने पर उसे ज़रूरी रूप से 'आउट' ही क़रार दे सकती है। यानी हर रचना पूर्ण और सार्थक ही हो जाय या एक ही महत्तम वज़न में तुल जाए, कोई ज़रूरी नहीं है। यह सत्य प्रेमचंद के साथ भी घटित हुआ है, निराला के साथ भी और उसी तरह नागार्जुन और मंगलेश डबराल के साथ भी तथा शिवबहादुर सिंह भदौरिया से लेकर दिनेश सिंह या यश मालवीय के साथ भी। हर रचना दरअसल एक कोशिश ही है जिसमें कुछ-न-कुछ छूट ही जाता है—अगली कोशिश के लिए।"

O

गीत की अनवरत प्रवहमान धारा में रचनात्मक नैरन्तर्य का एक ज़रूरी और इक़बालिया बयान है यह। इसी कोशिश में आज का नवगीतकार गीत को नये मुहावरे में निखार रहा है। यह उमाकान्त मालवीय, ओम प्रभाकर, नईम आदि की रोपी हुई पौद है, जो पल्लवित और पुष्पित होकर नयी सुगन्ध से गीत के उपवन को भर रही है। उसकी भाषा, उसका मुहावरा अलग है। इसीलिए वह नवगीत है, लेकिन है वह गीत ही। जीवन जितने रूपों में हमें आज जीने को मिल रहा है, गीत उस सबको वाणी दे रहा है। अगर कलकत्ते में वह चन्द्रदेव सिंह के शब्दों में त्रासद स्थितियाँ उकेरता है :

"अर्धनग्न सड़कों पर बालू से ढँकी हुई
पिघले कोलतार-सी आस्थाएँ
अगल-बग़ल
परिचित निगाहों से ज़हरीले पेड़ खड़े
किसके नीचे बैठें—सुस्ताएँ
कोई भी छाँह मत गहो
यूँ ही चुप रहो।
कुछ मत कहो।"

तो पटना में सत्यनारायण के ज़रिए वही गीत वैशाली के परिप्रेक्ष्य में राजनीति का यथार्थ सामने रखता है :

"गणाध्यक्ष, गणतंत्र, सभासद
सबके मेले हैं
वैशाली में वैशाली के लोग
अकेले हैं।
छोड़ गये हैं साथ तथागत
ऐसा लगता है
नगरवधू होकर जीने को
विवश आम्रपाली।
वैशाली को ढूँढ़ रही है कब से वैशाली।"

वाराणसी में श्रीकृष्ण तिवारी तिक्त यथार्थ को नए मुहावरे में यों सामने लाते हैं–

"रोज़ ज़हर पीना है
सर्प दंश सहना है
मुझको तो जीवन भर
चंदन ही रहना है।
वक़्त की हथेली पर प्रश्न-सा जड़ा हूँ मैं
टूटते नदी तट पर पेड़-सा खड़ा हूँ मैं।
रोज़ धूप पीनी है
सूर्य दंश सहना है
कितना भी चिटकूँ
पर दर्पण ही रहना है।"

इलाहाबाद में यश मालवीय का छोटा भाई वसु मालवीय, जो अल्पायु में ही इश्वर को प्यारा हो गया, गीत को नये बिम्बों से यों अर्थवत्ता प्रदान कर रहा था :

"कुछ सपने धारावाहिक से/आकर चले गए
हम केवल दर्शक थे
केवल मंच हमारा था
उन दृश्यों को हमने
अपनी आँख उतारा था
कुछ गायक आए और हमको/गाकर चले गए
कई-कई अंकों में हमको
यूँ ही बँटना था
पूर्वकथा, निर्धारित मुद्दा

क्रमशः घटना था
भाषा के जादूगर सब उलझाकर चले गए।"

वहीं कैलाश गौतम और यश मालवीय के साथ अमरनाथ श्रीवास्तव कहते हैं :

"बोलने को बोलता हूँ
व्याकरण मेरा नहीं है।"

इलाहाबाद ही नहीं, कानपुर में भी शतदल हैं, जो परम्परा ओर आधुनिकता के सम्मिश्रण को नवगीत की सहजता का बाना पहनाते हुए जीवन का सनातन सत्य कह रहे हैं .

"नदिया कब घाटों पर ठहरी
कल कल बहती जाय उमर-सी
सुबह-शाम-दोपहरी।"

कानपुर में ही वीरेन्द्र आस्तिक, अवधेश श्रीवास्तव और कन्हैयालाल वाजपेयी जैसे युवामन के रचनाकार नवगीत को अपने परिवेश के चित्रों से समृद्ध कर रहे हैं। कन्हैयालाल वाजपेयी का बोलता हुआ गीत 'मे हूँ बीता वर्ष' देखें :

"दीमक लगी हुई पुस्तक में
धरे मोर पंखों-सा
या फिर ज्वार उतर जाने पर
तट पर के शंखों-सा
मैं हूँ दुखद अतीत
किसी को क्या सुख दे पाऊँगा
मैं हूँ बीता वर्ष
लोट कर कभी नहीं आऊँगा।"

नवगीत की विविधवर्णी ये छटाएँ लखनऊ में सूर्यकुमार पांडेय उकेर रहे हैं, तो गाज़ियाबाद में कुँवर बेचेन, मुरादाबाद में माहेश्वर, सहारनपुर में सपन और इन्दिरा गोड़, देहरादून में बुद्धिनाथ मिश्र, आगरा मं सोम, देवास में नईम, भिंड में ओम प्रभाकर और होशंगाबाद में विनोद निगम, मुम्बई मे सूर्यभानु गुप्त, तो दिल्ली में रामदरश मिश्र से लेकर विजय किशोर मानव और राधेश्याम तिवारी तक... गरज़ कि चतुर्दिक हिन्दी की नयी गीतधारा अपनी संवेदनाओ के साथ उभरी हुई दीख रही है। उसमें वह सब कुछ है जो जीवन में है। थोड़ा बहुत कूड़ा-करकट भी। लेकिन सब कुछ कूड़ा-करकट ही नहीं है, इतना सप्रमाण, विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है।

आज का गीत उद्दाम रागात्मकता के चित्रण में भी लिजलिजी भावुकता का परचम नहीं लहराता और प्रकृति को देखने की भी उसकी अपनी दृष्टि है। नवगीत के एक प्रसिद्ध हस्ताक्षर हैं राजेन्द्र गौतम। उन्होंने एक जगह लिखा है कि 'नारी और प्रकृति काव्य में ग्रहण किए जाने

वाले सौन्दर्य के शाश्वत उपादान हैं और नवगीत इसका अपवाद नहीं हैं। परन्तु इन दोनों ही क्षेत्रों में नवगीतकार ने रूढ़ियों की जकड़न को तोड़ा है। नवगीतकार के लिए नारी न तो रीतिकालीन नायिका विशेष है और न छायावाद की अदृष्ट दिव्यलोक की प्रेयसी, बल्कि इसके लिए नारी सहकर्मिणी मित्र और जीवन की सहभोक्ता है।"

असल में नवगीतकार की सौन्दर्य चेतना प्रकृति के हर पहलू से जुड़ी हुई है—नदी, जल, फूल, चाँदनी, आकाश, अमलताश, पलाश के साथ नारी का मांसल और आत्मिक रूप—सभी उसकी सौंदर्य चेतना में समाहित होकर उभरते हैं। शिशु की किलकारी और आकाश की विराटता दोनों पर उसकी दृष्टि जाती है। इस सन्दर्भ में भारत के स्वनामधन्य रचनाकार रघुपति सहाय फ़िराक़ का एक कथन याद आ रहा है। वे कहते थे—"मैं उसे बुरा आदमी नहीं कहूँगा, जो हत्यारा है, डकैत है, तस्कर है, चोर है, व्यभिचारी है या और भी जिन बुराइयों का ज़िक्र आम तौर पर किया जाता है, वे सभी बुराइयाँ उसमें हैं। हाँ, मेरी नज़र में वह आदमी बुरा ज़रूर है, जो गंगा की मौजों को देखकर प्रसन्नता से नाच नहीं उठता, जो विराट आकाश को देखकर 'अनयुजुअली थ्रिल्ड' नहीं महसूस करता, उसके मन में कहीं खोट ज़रूर है।"

फ़िराक़ साहब के इस कथन के ऊपरी अंश को अभिधात्मक रूप में देखने में भले गड़बड़ होने की गुंजाइश हो, लेकिन कथन का अन्तिम अंश किसी भी रचनाकार की सौन्दर्य चेतना का प्रतीकात्मक खुलासा है। नवगीतकार की सौन्दर्य-चेतना में फ़िराक़ साहब की बात काफ़ी कुछ निहित मिलती है।

O

नवगीत की सौन्दर्य चेतना जीवन की सम्पूर्णता को अपनी परिधि में रखकर चलती है, जो समय के साथ बदलती भी दीखती है। इसी क्रम में वह लोक की परम्परा से लेकर वैश्वीकृत आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता तक का मुहावरा पकड़ती है। वहाँ कभी परम्परा के आईने में उत्तर आधुनिकता का बिम्ब उभरता दिखता है, तो कभी उत्तर आधुनिक स्थितियों को रूपायित करने के लिए परम्परा के मुहावरे और बिम्बों का इस्तेमाल किया गया होता है। इसके लिए आज के गीत में इतिहास, मिथक और संस्कारजन्य बोध का खुलकर प्रयोग होता है। उत्तर आधुनिकतावाद की प्रक्षेपित मान्यताएँ इतिहास और संस्कारों का विरोध करती हैं। इनसे मुक्त होने के लिए वे विस्मरण को ज़रूरी मानती हैं। अपने परिवेश और जिए हुए वर्तमान को वे मान्यताएँ सीधे-सीधे कहने की पक्षधर हैं। मिथकीय प्रयोग उनके यहाँ वर्जित हैं, क्योंकि वे इतिहास से मुक्ति दिला ही नहीं पाते।

आलोचना में उत्तर आधुनिकता की इन मान्यताओं के पक्षधर निश्चय ही नवगीत धारा की ऐसी तमाम मर्मस्पर्शी पंक्तियों का अर्थ समझने से वंचित रह जाएँगे, जिनमें एक बिम्ब के माध्यम से किसी सत्य का सर्वांग उद्घाटन किया गया होता है। उन्हें सूर्यभानु गुप्त की यह एकपंक्तीय कविता समझ में ही नहीं आएगी, क्योंकि सीता के इस कथन में कंचनमृग का मिथक है—

"लक्ष्मण रेखा हमने लाँघी
कंचनमृग बदनाम हो गया।"

कन्हैयालाल वाजपेयी अपने एक शब्द 'वनवासी' से राम का तापस वेश और उनका चौदह वर्षीय जंगल-जीवन तथा स्वर्णमृग की छलना से आज के जीवन का सारा भ्रम उजागर करते हैं, लेकिन उत्तर आधुनिकतावादियों के लिए इसे समझ पाने में कठिनाई होगी, जबकि उस कविता की सहज भाषा आज के मनुष्य की विडम्बनापूर्ण ज़िन्दगी के तमाम अक्स एक साथ प्रस्तुत करती है। कविता यों शुरू होती है–

"जब आधा जीवन बीत गया
वनवासी सा गाते-रोते
तब पता चला इस दुनिया में
सोने के हिरन नहीं होते।

सम्बन्ध सभी ने तोड़ लिये
पीड़ा ने कभी नहीं तोड़े
सब हाथ जोड़कर चले गये
चिन्ता ने हाथ नहीं जोड़े

सूनी घाटी में अपनी ही
प्रतिध्वनियों ने यों छला हमें
तब पता चला पाषाणों में
वाणी, मन, नयन नहीं होते।"

उत्तर-आधुनिकतावादियों के लिए हिन्दी गीत की ऐसी पंक्तियाँ बेमानी हैं। कथाकार रमेश उपाध्याय ने तो उत्तर-आधुनिकतावाद को एक प्रपंच तक की संज्ञा दी है, "एक बौद्धिक प्रपंच, उसका मुक़ाबला अबौद्धिकता से नहीं किया जा सकता। हमें अधिक बौद्धिक प्रखरता के साथ इसकी आलोचना करनी होगी।"

इस प्रसंग में जापान के टोकिओ विश्व विद्यालय में हिन्दी के विज़िटिंग प्रोफ़ेसर और आलोचक कृष्णदत्त पालीवाल की अपने जापानी सहयोगियों के साथ हुई बातचीत का एक अंश याद आता है। उन्होंने भारत में उत्तर आधुनिकता की चर्चा का ज़िक्र किया, तो उनके एक जापानी सहयोगी ने टोका : पालीवाल जी, जिस देश में अभी आधुनिकता अपने सही रूप में अवतरित नही हो सकी, वहाँ आप उत्तर-आधुनिकता की बात कैसे कर सकते हैं ?

उस जापानी प्रोफ़ेसर की बात को सही अर्थों में देखें, तो हमें बुरा नहीं मानना चाहिए। हमारे यहाँ आज भी बैलगाड़ी में पूरी तरह बाल-बेयरिंगवाले पहिये नहीं लगाए जा सके, लकड़ी के पुराकालीन पहिये बैलों के कान्धों को लहूलुहान कर देते हैं, उस देश में उत्तर-आधुनिकता प्रपंच के सिवा सचमुच कुछ नहीं लगती। बहरहाल, नवगीत इस 'प्रपंच' की परवाह किए बिना

अपनी अभिव्यक्तियों को हर तरह से तराश रहा है और अंतश्चेतना के इस संघर्ष को सामने रख रहा है।

आज गीत जिस मुकाम पर पहुँच गया है, वहाँ से कल उसे फिर नया रूप लेना होगा। तब इस नवगीत को किस संज्ञा से जाना जाएगा, यह प्रश्न मेरे मन में बार-बार उठता रहा है। इसीलिए मैं नवता को वन्दनीय मानते हुए भी इसके 'नवगीत' नामकरण के प्रति बहुत आग्रही कभी नहीं रहा। गीत अन्ततः गीत है और वह युगानुरूप अपने को बदलते हुए अपनी यात्रा पर अविराम अग्रसर रहेगा।

O

हिन्दी गीत के इस लम्बे सफ़र को संकलित गीतों के माध्यम से अगर देखने की इच्छा किसी सुधी पाठक में जाग्रत हो तो हिन्दी में एक भी ऐसा संग्रह उपलब्ध नहीं था। साहित्य अकादेमी की निगाह भी इस ओर नहीं गई थी। इसकी हल्की-सी कसक मेरे मन में थी जिसे लेकर मैं एक बार साहित्य अकादेमी के तत्कालीन अध्यक्ष यू. आर. अनन्तमूर्ति से ख़ासी ज़िरह कर बैठा। बाद में तत्कालीन सचिव इन्द्रनाथ चौधुरी के एक पत्र से पता चला कि अकादेमी ने भी इस कमी का अनुभव किया और इस तरह संचयन-सम्पादन तथा भूमिका लेखन की ज़िम्मेदारी मेरे ऊपर डाली गयी। बात चूँकि मैंने उठाई थी, इसलिए इनकार करने का मन बनाता भी तो किस मुँह से ! सो मैंने योजना के लिए अपनी स्वीकृति दे दी। लेकिन उसके तत्काल बाद मेरी दो-तीन वर्षों तक अपनी पुस्तकों और लेखन-सन्दर्भों से अलग रहने की मुम्बई-प्रवास की मजबूरी ने काम में अनपेक्षित विलम्ब का बानक बना दिया। दुबारा दिल्ली लौटने पर मैंने इस योजना का काम शुरू भी किया तो इसे सही ढंग से अंजाम देने में अनेकानेक बाधाएँ झेलनी पड़ीं। इन बाधाओं में सबसे बड़ी बाधा मेरे तमाम भव-धन्धों के बीच संकलित रचनाओं का समयबद्ध तरीक़े से एकत्र करना था। और जब सामग्री एकत्र हुई तो इतनी हो गई और होती गई कि उसे निर्धारित पृष्ठों के अन्तर्गत समाहित कर सकना असम्भव हो गया। पृष्ठ संख्या बढ़ने पर उसकी क़ीमत का बढ़ना योजना के मूल उद्देश्य में बहुत बड़ी बाधा था। इस उधेड़बुन ने मुझे सबसे बड़ी साँसत में डाला। समय-सीमा के बढ़ते चले जाने के बावजूद कुछ ज़रूरी कवियों के गीतों का अन्तिम समय तक न मिल पाना और मिलना तो अपेक्षित मेरे मन के गीतों का न मिलना संचयन के कलेवर को सीमित रखने में मेरा सहायक ज़रूर बना, लेकिन दर्ज़नों कवियों की संचयन में अनुपस्थिति इसकी बहुत बड़ी कमी का भी बायस बना। उन सभी कवियों की अनुपस्थिति के लिए मैं पाठकों और कवियों दोनों से भरे मन से क्षमायाचना करना चाहता हूँ।

मुम्बई प्रवास से दिल्ली लौटने पर इस काम को आगे बढ़ाने में मेरी 'नेहरू फ़ेलोशिप' ने उत्प्रेरक का काम किया। 'जवाहरलाल नेहरू स्मारक निधि' के इस प्रेरक सहयोग के लिए मैं विशेष रूप से आभारी अनुभव करता हूँ।

इस संचयन में कुछ गीतों की उपस्थिति मेरे कुछ मित्रों के सहयोग के बिना संभव नहीं

थी, इनमें दिल्ली में पंडित रमानाथ अवस्थी और राधेश्याम तिवारी, कानपुर में शतदल, इलाहाबाद में यश मालवीय, पटना में सत्यनारायण और मुम्बई में डॉ. राजम पिल्लै के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। रमानाथ जी ने तो टंकण की सुविधा के अभाव में अपने हस्तलेख में मुझे नेपाली जी तथा शम्भुनाथ जी के गीत मुहैया कराये। राधेश्याम तिवारी मेरे लिए उन दिनों काम आए, जब मैं एक सड़क दुर्घटना का शिकार होकर महीनों चलने-फिरने में असमर्थ रहा। उन्होंने पांडुलिपि को प्रेस तक पहुँचाने लायक़ बनाने में मेरा सक्रिय सहयोग किया। अपने इन सभी बन्धुओं के प्रति मैं विशेष रूप से अपना आभार प्रकट करना चाहता हूँ।

इसी के साथ आभार सभी संकलित कवियों की रचनाओं के लिए। जिस आत्मीय भावना से हर किसी ने इस 'गीत यज्ञ' में मेरा उत्साह बढ़ाया और सहयोग किया, उसके लिए वस्तुतः आभार का कोई भी शब्द छोटा है। सहयोग की यह भावना मेरे लिए वन्दनीय है।

अन्य बाधाओं का भी उल्लेख करूँ, तो संकलित कवियों के परिचय देने की मेरी योजना में भी बाधा पड़ी, क्योंकि सभी कवियों के संक्षिप्त परिचय देने में भी जिस एकरूपता का निर्वाह मैं करना चाहता था, वह खंडित होती दीखती रही। मैं चाहता था कि परिचय हो तो पूरा हो, किसी का हो और किसी का न हो या हो तो अधूरा हो, इसे मेरी सम्पादन-दृष्टि स्वीकार नहीं कर पायी। इसलिए कवि-परिचय न देकर सीधे-सीधे उनके गीतों को स्थान दिया गया है।

संचयन की शुरुआत दद्दा मैथिलीशरण जी गुप्त के गीतों के बाद छायावाद के चतुःस्तम्भों के गीतों से की गयी है, जिन्हें आधुनिक हिन्दी गीत की पूर्वपीठिका के रूप में लिया गया है। यदि हिन्दी गीत के नव्यतम भावबोध और शिल्प के विकास की आधारशिला दद्दा के गीतों में है, तो हिन्दी के चहुँमुखी विकास को छायावाद ने रूपायित किया। तब से अब तक हिन्दी गीत ने जीवन के हर पहलू को व्यक्त किया, उसके अनुरूप भाव और भाषा का मुहावरा तलाशा और मृत होने की अनेक घोषणाओं को नकारते हुए अपनी अनवरत प्रवहमान धारा का क्रम जारी रखा। इसी अर्थ में मैंने इस प्राक्कथन के प्रारम्भ में उमाकान्त मालवीय की गीत पंक्ति का हवाला दिया था और गीत को एक अनवरत बहती हुई नदी के रूप में देखा था।

इस प्रवहमान गीत-गंगा में संकलित भगीरथ रचनाकारों को किस क्रम में रखा जाए, यह सबसे बड़ी साँसत का विषय रहा। जिस क्रम में मैंने उन्हें रखा है, वह निश्चय ही अनेक दृष्टियों से असन्तोषजनक हो सकता है, लेकिन कोई भी तरीक़ा मुझे निरापद नहीं लगा। अनुक्रम बनाने की मान्य प्रणालियाँ—जन्म क्रम या फिर अकारादिक्रम—भी कई बार अवदान और श्रेष्ठता को दृष्टि में रखें, तो बड़ी उलझनें पैदा करती हैं। इनमें सबसे बड़ी उलझन गीत के भावबोध और भाषा के मुहावरे की क्रमिकता को पकड़ने और आत्मसात करने में आती है। मैंने इन दोनों ही प्रणालियों का सहारा छोड़ा और एक तरह से बेसहारा हो गया। अपनी सुविधा के लिए मैंने अपने कविबन्धु अजित कुमार और आलोचक मित्र कृष्णदत्त पालीवाल से सलाह ली और असमंजस के बीच मोटे-मोटे तौर पर छायावाद के बाद से अब तक के कालखंड को तीन-चार पर्वों में बाँटकर उनमें भरे हुए नामों को 'को बड़ छोट कहत अपराधू' मानकर समवेत

एक इकाई की तरह ग्रहण किया। इसके लिए मैं रचनाकारों और पाठकों दोनों से क्षमाप्रार्थी हूँ और निवेदन करना चाहता हूँ कि वे नामों के क्रम में ज्येष्ठता-कनिष्ठता या श्रेष्ठता की वरीयता देखने की ओर अपना ध्यान न लगायें। मेरी सीमाओं को दोष देकर संकलित गीतों का आनन्द लें। उपरोक्त सभी त्रुटियों को संचयन की अगली प्रस्तुति/आवृति में दूर किया जा सके, इसकी कोशिश अवश्य करूँगा।

O

प्रस्तुत संचयन एक तरह से समूची बीती हुई शताब्दी के गीतों का एक प्रतिनिधि समुच्चय कहा जा सकता है, जिसको बीसवीं शताब्दी के अंतिम दिन की अन्तिम बेला में मैंने विराम दिया और साहित्य अकादेमी के संवेदनशील उपसचिव रणजीत साहा को सौंप दिया। इसमें दद्दा मैथिलीशरण गुप्त से लेकर आज के युवतम गीत हस्ताक्षरों तक को सम्मिलित ज़रूर किया गया है, मगर इस अनवरन बहती धार में रोज़ नया-नया जल जुड़ता है। जुड़ रहा है। अगली सदी में इस यात्रा में नये मुहावरे, नये अनुभव-बिम्ब, नयी सौन्दर्य चेतना और आनेवाले दिनों के लिए नयी दृष्टि से सम्पन्न गीत सामने आएँगे। निश्चिन्त रहें, गीत म्रियमाण है ही नहीं; संवेदना की हिलोरों से वह अनुप्राणित होता है। तो जब तक संवदनाएँ हैं, गीत उनसे प्राणवायु पाता रहेगा और अपनी संक्षिप्तता, स्पष्टता और सहजता के बल पर जीता आया है और जीता रहेगा। इसके मरने-मारने के सारे उद्घोष बेमानी शब्दजाल हैं। विनय भदौरिया के शब्दों में गीत--

"न मरा है न कभी मरना है
दिन-ब-दिन और भी सँवरना है
गीत का स्रोत नहीं सूखेगा
सृष्टि का यह अजस्र झरना है।"

अपने अग्रज पं. विद्यानिवास मिश्र के शब्दों को मैं गीत के लिए आशीर्वाद स्वरूप सामने रखकर अपनी बात को यहीं विराम दे रहा हूँ। उनके शब्द हैं, "मैं गीत को जीने की शर्त के रूप में स्वीकार करता हूँ, इसीलिए इसे म्रियमाण देखना गवारा नहीं कर पाता।"

उनके शब्दों में गीत के प्रति मेरी आस्था बोलती हुई मानी जाये।

—कन्हैयालाल नन्दन

31 दिसम्बर 2000
132, कैलाश हिल्स
नयी दिल्ली 110065

समारंभ पर्व

मैथिलीशरण गुप्त

तुम निरखो

तुम निरखो, हम नाट्य करें !
राम, तुम्हारी रंगभूमि में कहो, कौन-सा रूप धरें ?
हाव-भाव तो आगे आवें
भावें अथवा तुम्हें न भावें
वे न हमारे समझे जावें
हम कोई भी स्वाँग भरें
तुम देखो हम नाट्य करें !
खेलें, डोलें, हँस लें, बोलें,
अनायास कुछ के कुछ हो लें
तनिक इसी मिष गा लें रो लें
हम अलिप्त, किस हेतु डरें
तुम देखो, हम नाट्य करें !
किन्तु धारणा तुच्छ हमारी
पावें हम सब बारी-बारी
अलख सूचना सदा तुम्हारी
तारो तो हम क्यों न तरें
तुम देखो, हम नाट्य करें !

सखि, वे मुझसे कहकर जाते

सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात;
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।

सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?

मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना ?
मैंने मुख्य उसी को जाना,
जो वे मन में लाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में
प्रियतम को, प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में—
क्षात्र-धर्म के नाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
हुआ न यह भी भाग्य अभागा,
किस पर विफल गर्व अब जागा ?
जिसने अपनाया था, त्यागा;
रहें स्मरण ही आते !
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

नयन उन्हें हैं निष्ठुर कहते,
पर इनसे जो आँसू बहते,
सदय हृदय वे कैसे सहते ?
गये तरस ही खाते !
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से ?—
आज अधिक वे भाते !
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

गये, लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व-अनुपम लावेंगे,
रोते प्राण उन्हें पावेंगे,
पर क्या गाते-गाते ?
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

जीवन की ही जय है

मृषा मृत्यु का भय है
जीवन की ही जय है!

जीव की जड़ जमा रहा है
नित नव वैभव कमा रहा है
यह आत्मा अक्षय है
जीवन की ही जय है।

नया जन्म ही जग पाता है
मरण मूढ़-सा रह जाता है
एक बीज सौ उपजाता है
स्रष्टा बड़ा सदय है
जीवन की ही जय है।

जीवन पर सौ बार मरूँ मैं
क्या इस धन को गाड़ धरूँ मैं
यदि न उचित उपयोग करूँ मैं
तो फिर महाप्रलय है
जीवन की ही जय है।

जयशंकर प्रसाद

बीती विभावरी जाग री

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी।

खग कुल-कुल-कुल-सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी।

अधरों में राग अमन्द पिये,
पलकों में मलयज बन्द किये—
तू अब तक सोई है आली।
आँखों में भरे विहाग री!

ले चल वहाँ भुलावा देकर

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक! धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी,
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो—
तज कोलाहल की अवनी रे।
जहाँ साँझ-सी जीवन-छाया,
ढीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढुलकाती हो—
ताराओं की पाँति घनी रे।

जिस गम्भीर मधुर छाया में,
विश्व चित्र-पट चल माया में,
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई—
दुख-सुख वाली सत्य बनी रे।
श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से,
जहाँ सृजन करते मेला से,
अमर जागरण उषा नयन से—
बिखराती हो ज्योति घनी रे !

तुमुल कोलाहल कलह में

तुमुल कोलाहल कलह में, मैं हृदय की बात रे मन !
विकल होकर नित्य चंचल,
खोजती जब नींद के पल,
चेतना थक-सी रही तब, मैं मलय की बात रे मन !
चिर विषाद विलीन मन की,
इस व्यथा के तिमिर वन की,
मैं उषा-सी ज्योति-रेखा, कुसुम विकसित प्रात रे मन !
जहाँ मरु-ज्वाला धधकती,
चातकी कन को तरसती,
उन्हीं जीवन-घाटियों की, मैं सरस बरसात रे मन !
पवन के प्राचीर में रुक,
जला जीवन जी रहा झुक,
इस झुलसते विश्व दिन की, मैं कुसुम ऋतु रात रे मन !
चिर निराशा नीरधर से,
प्रतिच्छायित अश्रु-सर से,
मधुप मुख मकरंद मुकुलित, मैं सजल जलजात रे मन !

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

बाँधो न नाव इस ठाँव

बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु !
पूछेगा सारा गाँव, बन्धु !

यह घाट वही, जिस पर हँसकर,
वह कभी नहाती थी धँसकर,
आँखें रह जाती थीं फँसकर,
कँपते थे दोनों पाँव, बन्धु !

वह हँसी बहुत कुछ कहती थी,
फिर भी अपने में रहती थी,
सबकी सुनती थी, सहती थी,
देती थी सबको दाँव, बन्धु !

स्नेह-निर्झर बह गया है

स्नेह-निर्झर बह गया है
रेत ज्यों तन रह गया है।
आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है—अब यहाँ पिक या शिखी,
नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूँ लिखी,
नहीं जिसका अर्थ—
जीवन दह गया है।

दिये हैं मैंने जगत को फूल-फल,
किया है अपनी प्रभा से चकित-चल,

पर अनश्वर था सकल पल्लवित पल,
ठाट जीवन का वही—
जो ढह गया है।

अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा,
श्याम तृण पर बैठने को निरुपमा।
बह रही है हृदय पर केवल अमा;
मैं अलक्षित हूँ, यही
कवि कह गया है।

सखि वसन्त आया

सखि वसन्त आया।
भरा हर्ष वन के मन,
नवोत्कर्ष छाया।

किसलय-वसना नव-वय-लतिका,
मिली मधुर प्रिय-उर तरु-पतिका,
मधुप-वृन्द बन्दी—
पिक-स्वर नभ सरसाया।

लता-मुकुल-हार-गन्ध-भार भर,
बही पवन बन्द मन्द मन्दतर,
जागी नयनों में वन
यौवन की माया।

आवृत सरसी-उर-सरसिज उठे,
केशर के केश कली के छूटे,
स्वर्ण - शस्य - अंचल
पृथ्वी का लहराया।

सुमित्रानंदन पंत

भारतमाता ग्रामवासिनी

भारतमाता
ग्रामवासिनी।
खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला-सा आँचल,
गंगा-यमुना में आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी।

दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन,
अधरों में चिर नीरव रोदन,
युग-युग के तम से विषण्ण मन,
वह अपने घर में
प्रवासिनी।
तीस कोटि सन्तान नग्न तन,
अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,
नत मस्तक
तरु तल निवासिनी !
स्वर्ण शस्य पर-पदतल लुंठित,
धरती-सा सहिष्णु मन कुंठित,
क्रंदन कंपित अधर मौन स्मित,
राहु ग्रसित
शरदेन्दु हासिनी।
चिन्तित भृकुटि क्षितिज तिमरांकित,
नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित,

आनन श्री छाया शशि उपमित,
ज्ञान मूढ़
गीता प्रकाशिनी!

सफल सहज उसका तप संयम,
पिला अहिंसा स्तन्य सुधोपम,
हरती जन मन भय, सब तम भ्रम,
जग जननी
जीवन विकासिनी

मौन निमंत्रण

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान;
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन!

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निःश्वास,
प्रखर झरती जब पावस धार;
न जाने, तपक तड़ित् में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन!

देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है, जब मधुमास,
विधुर उर के-से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास;
न जाने सौरभ के मिस कौन
संदेशा मुझे भेजता मौन!

क्षुब्ध जल-शिखरों का जब वात
सिन्धु में मथ कर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथुरा देती अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने मुझे बुलाता मौन!

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग कुल की कल कण्ठ हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर;
न जाने अलस पलक दल कौन
खोल देता तब मेरे मौन!

तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर-कुल की झनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार;
न जाने खद्योतों से कौन
मुझे पथ दिखलाता तब मौन!

कनक-छाया में जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प, बन जाते हैं गुञ्जार;
न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन!

बिछा कार्यों का गुरुतर भार
दिवस को दे सुवर्ण अवसान,
शून्य शय्या में श्रमित अपार,
जुड़ाती जब मैं आकुल प्राण;

न जाने मुझे स्वप्न में कौन
फिराता छाया-जग में मौन

न जाने कौन, अये छबिमान,
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
फूँक देते छिद्रों में गान ;
अहे सुख-दुख के सहचर मौन !
नहीं कह सकती तुम हो कौन!

मुक्ति बंधन

क्यों तुमने निज गीत विहग को
दिया न जग का दाना पानी,
आज आर्त अन्तर से उसके
उठती करुणा कातर वाणी।
शोभा के स्वर्णिम पिंजर में
उसके प्राणों को बन्दी कर,
तूने ज्यों उसके जीवन की
जीव मुक्ति ली पल भर में हर।
नीड़ बनाता वह डाली पर,
फिरता आँगन में कलरव भर,
उसे गीति के गीत सिखाने
दग्ध कर दिया तुमने अन्तर।
उड़ता होता क्या न गगन में?
चुगता होता दान भू पर।
अपना उसे बनाने तुमने,
लिए जीव के पंख ही कुतर।
क्यों तुमने निज गीत विहग को
दिया न भू का दाना पानी,
उसके आर्त हृदय से फिर-फिर
उठती सुख की कातर वाणी।

महादेवी वर्मा

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ!

नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण कण में,
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में,
प्रलय में मेरा पता पद चिह्न जीवन में,
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में;
कूल भी हूँ कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ!

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ,
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ,
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ;
दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ!

आग हूँ जिससे ढुलकते बिन्दु हिमजल के,
शून्य हूँ जिसको बिछे हैं पाँवड़े पल के,
पुलक हूँ वह जो पला है कठिन प्रस्तर में,
हूँ वही प्रतिबिम्ब जो आधार के उर में,
नील घन भी हूँ सुनहली रागिनी भी हूँ;

नाश भी हूँ मैं अनन्त विकास का क्रम भी,
त्याग का दिन भी चरम आसक्ति का तम भी,
तार भी आघात भी झंकार की गति भी,
पात्र भी मधु भी मधुप भी और विस्मृति भी;
अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ!

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !
युग-युग प्रतिदिन प्रतिपल प्रतिक्षण,
प्रियतम का पथ अलोकित कर !
सौरभ फैला विपुल धूप बन,
मृदुल मोम-सा धुल रे मृदु तन;
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल-गल !
पुलक-पुलक मेरे दीपक जल !

सारे शीतल कोमल नूतन,
माँग रहे तुझसे ज्वाला-कण
विश्व-शलभ सिर धुन कहता मैं
हाय न जल पाया तुझ में मिल !
सिहर-सिहर मेरे दीपक जल !

जलते नभ में देख असर कर,
स्नेहहीन नित कितने दीपक;
जलमय सागर का डर जलता,
विद्युत ले घिरता है बादल !
विहँस-विहँस मेरे दीपक जल !

द्रुम के अङ्ग हरित कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयङ्गम;
वसुधा के जड़ अन्तर में भी,
बन्दी है तापों की हलचल !
बिखर-बिखर मेरे दीपक जल !

मेरे निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भय कर;
मैं आँचल की ओट किए हूँ,

अपनी मृदु पलकों से चंचल !
सहज-सहज मेरे दीपक जल !

सीमा ही लघुता का बन्धन,
है अनादि तू मत घड़ियाँ गिन;
मैं दृग के अक्षय कोषों से—
तुझ में भरती हूँ आँसू जल !
सजल-सजल मेरे दीपक जल !

तम असीम तेरा प्रकाश चिर,
खेलेंगे नव खेल निरन्तर;
तम के अणु-अणु में विद्युत-सा
अमित चित्र अंकित करता चल !
सरल-सरल मेरे दीपक जल !

तू जल-जल जितना होता क्षय,
वह असीम आता छलनामय;
मधुर मिलन में मिट जाना तू—
उसकी उज्ज्वल स्मित में धुल खिल !
मदिर-मदिर मेरे दीपक जल !
प्रियतम का पथ आलोकित कर !

मैं नीर भरी दुख की बदली

मैं नीर भरी दुख की बदली !

स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा,
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा,
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली!

मेरा पग-पग संगीत भरा,
स्वासों से स्वप्न पराग झरा,
नभ के नवरंग बुनते
छाया में मलय बयार पली!

मैं क्षितिज-भृकुटि पर घिर धूमिल,
चिन्ता का भार बनी अविरल,
रज-कण पर जल-कण हो बरसी,
नवजीवन-अंकुर बन निकली!

पथ को न मलिन करती आना,
पदचिह्न न दे जाता जाना,
सुधि मेरे आगम की जग में
सुख की सिहरन हो अन्त खिली!

विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली!

प्रथम पर्व

माखनलाल चतुर्वेदी

तुम मिले, प्राण में रागिनी छा गयी

तुम मिले, प्राण में रागिनी छा गयी !
भूलती-सी जवानी नयी हो उठी
भूलती-सी कहानी नयी हो उठी,
जिस दिवस प्राण में नेह-बंसी बजी,
बालपन की रवानी नई हो उठी

कि रसहीन सारे बरस, रसभरे हो गये—
जब तुम्हारी छटा भा गयी !!

तुम मिले प्राण में रागिनी छा गयी ! !
घनों में मधुर स्वर्ण-रेखा मिली
नयन में नयन रूप देखा, मिली—
पुतलियों में डुबा निज नज़र की कलम
नेह के पृष्ठ की चित्रलेखा मिली

बीतते-से दिवस लौट कर आ गये !!
बालपन ले जवानी सँभल आ गयी।।

तुम मिले प्राण में रागिनी छा गयी !

मेंहदी से तस्वीर खींच ली

मेंहदी से तस्वीर खींच ली किसकी मधुर ! हथेली पर।

प्राणों की लाली-सी है यह, मिट मत जाय
हाथों में रसदान किये यह, छुट मत जाय
यह बिगड़ी पहचान कहीं कुछ बन मत जाय
रूठन फिसलन से मन चाही मन मत जाय!

बेच न दो विश्वास-साँस को, उस मुस्कान अधेली पर!
मेंहदी से तस्वीर खींच ली किसकी मधुर ! हथेली पर।

हाथों पर लिख रक्खा है क्या सौदा आँख-मिचौनी का ?
आँखों में भर लायी हो क्या रस ? आहत अनहोनी का ?
क्या बाजी पर चढ़ा दिये ये विमल गोद के धन आली ?
क्या कहलाने लगा जगत में हर माली ही वनमाली ?

तुम्हें याद कर रहा प्राणधन उस झिड़कन अलबेली पर।
मेंहदी से तस्वीर खींच ली किसकी मधुर! हथेली पर।

सुभद्रा कुमारी चौहान

ठुकरा दो या प्यार करो

देव ! तुम्हारे कई उपासक कई ढंग से आते हैं।
सेवा में बहुमूल्य भेंट वे कई रंग की लाते हैं।।

धूमधाम से साजबाज से वे मन्दिर में आते हैं।
मुक्तामणि बहुमूल्य वस्तुएँ लाकर तुम्हें चढ़ाते हैं।।

मैं ही हूँ ग़रीबिनी ऐसी जो कुछ साथ नहीं लायी।
फिर भी साहस कर मन्दिर में पूजा करने को आयी।।

धूप-दीप-नैवेद्य नहीं है झाँकी का शृंगार नहीं।
हाय ! गले में पहनाने को फूलों का भी हार नहीं।।

कैसे करूँ कीर्तन, मेरे स्वर में है माधुर्य नहीं।
मन का भाव प्रकट करने को वाणी में चातुर्य नहीं।।

नहीं दान है, नहीं दक्षिणा ख़ाली हाथ चली आयी।
पूजा की विधि नहीं जानती, फिर भी नाथ ! चली आयी।।

पूजा और पुजापा प्रभुवर ! इसी पुजारिन को समझो।
दान-दक्षिणा और निछावर इसी भिखारिन को समझो।।

मैं उन्मत्त प्रेम की प्यासी हृदय दिखाने आयी हूँ।
जो कुछ है, वह यही पास है, इसे चढ़ाने आयी हूँ।।

चरणों पर अर्पित है, इसको चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है ठुकरा दो या प्यार करो।।

मेरा नया बचपन

बार-बार आती है मुझको मधुर याद बचपन तेरी।
गया ले गया तू जीवन की सबसे मस्त खुशी मेरी।।

चिन्ता-रहित खेलना-खाना वह फिरना निर्भय स्वच्छंद।
कैसे भूला जा सकता है बचपन का अतुलित आनन्द ?

ऊँच-नीच का ज्ञान नहीं था छुआछूत किसने जानी ?
बनी हुई थी वहाँ झोंपड़ी और चीथड़ों में रानी।।

किये दूध के कुल्ले मैंने चूस अँगूठा सुधा पिया।
किलकारी किल्लोल मचाकर सूना घर आबाद किया।।

रोना और मचल जाना भी क्या आनन्द दिखाते थे।
बड़े-बड़े मोती-से आँसू जयमाला पहनाते थे।।

मैं रोई, माँ काम छोड़कर आईं, मुझको उठा लिया।
झाड़-पोंछ कर चूम-चूम गीले गालों को सुखा दिया।।

दादा ने चन्दा दिखलाया नेत्र नीर-युत दमक उठे।
धुली हुई मुस्कान देखकर सबके चेहरे चमक उठे।।

वह सुख का साम्राज्य छोड़कर मैं मतवाली बड़ी हुई।
लुटी हुई, कुछ ठगी हुई-सी दौड़ द्वार पर खड़ी हुई।।

लाजभरी आँखें थीं मेरी मन में उमँग रंगीली थी।
तान रसीली थी कानों में चंचल छैल छबीली थी।।

दिल में एक चुभन-सी भी थी यह दुनिया अलबेली थी।
मन में एक पहेली थी मैं सब के बीच अकेली थी।।

मिला, खोजती थी जिसको हे बचपन ! ठगा दिया तूने।
अरे ! जवानी के फन्दे में मुझको फँसा दिया तूने।।

सब गलियाँ उसकी भी देखीं उसकी खुशियाँ न्यारी हैं।
प्यारी, प्रीतम की रँग-रलियों की स्मृतियाँ भी प्यारी हैं।।

माना मैंने युवा-काल का जीवन खूब निराला है।
आकांक्षा, पुरुषार्थ, ज्ञान का उदय मोहनेवाला है।।

किन्तु यहाँ झंझट है भारी युद्ध-क्षेत्र संसार बना।
चिन्ता के चक्कर में पड़कर जीवन भी है भार बना।।

आ जा बचपन! एक बार फिर दे दे अपनी निर्मल शांति।
व्याकुल व्यथा मिटानेवाली वह अपनी प्राकृत विश्रांति।।

वह भोली-सी मधुर सरलता वह प्यारा जीवन निष्पाप।
क्या आकर फिर मिटा सकेगा तू मेरे मन का संताप ?

मैं बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी।
नन्दन वन-सी फूल उठी यह छोटी-सी कुटिया मेरी।।

'माँ ओ' कहकर बुला रही थी, मिट्टी खाकर आयी थी।
कुछ मुँह में कुछ लिये हाथ में मुझे खिलाने लायी थी।।

पुलक रहे थे अंग, दृगों में कौतूहल था छलक रहा।
मुँह पर थी आह्लाद-लालिमा विजय-गर्व था झलक रहा।।

मैंने पूछा 'यह क्या लायी ?' बोल उठी वह 'माँ, काओ'।
हुआ प्रफुल्लित हृदय ख़ुशी से मैंने कहा—'तुम्हीं खाओ'।।

पाया मैंने बचपन फिर से बचपन बेटी बन आया।
उसकी मंजुल मूर्ति देखकर मुझ में नवजीवन आया।।

मैं भी उसके साथ खेलती खाती हूँ, तुतलाती हूँ।
मिलकर उसके साथ स्वयं मैं भी बच्ची बन जाती हूँ।।

जिसे खोजती थी बरसों से अब जाकर उसको पाया।
भाग गया था मुझे छोड़कर वह बचपन फिर से आया।।

रामकुमार वर्मा

साधना संगीत

आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय !

आरती घूमे कि खिंचता जाय
रंजित क्षितिज-घेरा,
धूम-सा जल कर भटकता
उड़ चले सारा अँधेरा।
हो शिखा स्थिर, प्राण के
प्रण की अचल निष्कंप रेखा,
हृदय की ज्वाला, हँसी में
दीप्ति की हो चित्र-लेखा।
श्वास ही मेरी, विनय की भारती बन जाय !
आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय !

वह हँसी मन्दिर बने
मुस्कान क्षण हों द्वार मेरे,
तुम मिलो या मैं मिलूँ
ये मिलन पूजा - हार मेरे।
आज बन्धन ही बनेंगे
मुक्ति के अधिकार मेरे,
क्यों न मुझमें अवतरित
होकर रहो स्वरकार ! मेरे !
प्राण-वंशी प्रेम की ही चिर व्रती बन जाय !
आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय !

मौन करुणा

मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।
जानता हूँ, इस जगत में
फूल की है आयु कितनी।
और यौवन की उभरती
साँस में है वायु कितनी।
इसलिए आकाश का विस्तार
सारा चाहता हूँ।
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।

प्रश्न-चिह्नों में उठी हैं
भाग्य-सागर की हिलोरें।
आँसुओं से रहित होंगी
क्या नयन की नमित कोरें?
जो तुम्हें कर दे द्रवित
वह अश्रु-धारा चाहता हूँ।
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।

जोड़ कर कण-कण कृपण
आकाश ने तारे सजाये।
जो कि उज्ज्वल हैं सही,
पर क्या किसी के काम आये?
प्राण : मैं तो मार्ग-दर्शक
एक तारा चाहता हूँ।
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।

यह उठा कैसा प्रभंजन !
जुड़ गईं जैसे दिशाएँ !
एक तरणी, एक नाविक
और कितनी आपदाएँ !
क्या कहूँ, मझधार में हो
मैं किनारा चाहता हूँ !
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।

नरेन्द्र शर्मा

आज के बिछुड़े

आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?
आज से दो प्रेमयोगी अब वियोगी ही रहेंगे!
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

सत्य हो यदि, कल्प की भी कल्पना कर धीर बाँधूँ,
किन्तु कैसे व्यर्थ की आशा लिए यह योग साधूँ ?
जानता हूँ अब न हम तुम मिल सकेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

आयगा मधुमास फिर भी, आयगी श्यामल घटा घिर,
आँख भरकर देख लो अब, मैं न आऊँगा कभी फिर !
प्राण तन से बिछुड़ कर कैसे मिलेंगे ?
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

अब न रोना, व्यर्थ होगा हर घड़ी आँसू बहाना,
आज से अपने वियोगी हृदय को हँसना सिखाना,
अब न हँसने के लिए हम तुम मिलेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

आज से हम तुम गिनेंगे एक ही नभ के सितारे,
दूर होंगे पर सदा को ज्यों नदी के दो किनारे,
सिन्धु-तट पर भी न जो दो मिल सकेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

तट नदी के, भग्न उर के दो विभागों के सदृश हैं,
चीर जिनको विश्व की गति बह रही है, वे विवश हैं,

एक अथ-इति पर न पथ में मिल सकेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

यदि मुझे उस पार के भी मिलन का विश्वास होता,
सत्य कहता हूँ न मैं असहाय या निरुपाय होता,
किन्तु क्या अब स्वप्न में भी मिल सकेंगे ?
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

आज तक किसका हुआ सच स्वप्न जिसने स्वप्न देखा ?
कल्पना के मृदुल कर से मिटी किसकी भाग्य-रेखा
अब कहाँ सम्भव कि हम फिर मिल सकेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

आह, अन्तिम रात वह, बैठी रहीं तुम पास मेरे,
शीश कंधे पर धरे घन-कुन्तलों से गात घेरे,
क्षीण स्वर में कहा था, 'अब कब मिलेंगे ?'
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

'कब मिलेंगे ?' पूछता मैं विश्व से जब विरह-कातर,
'कब मिलेंगे ?' गूँजते प्रतिध्वनि-निनादित व्योम-सागर,
'कब मिलेंगे ?' प्रश्न, उत्तर 'कब मिलेंगे ?'
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

रूप-शिखा

तुम दुबली-पतली दीपक की लौ-सी सुन्दर
मैं अन्धकार,
मैं दुर्निवार.
मैं तुम्हें समेटे हूँ सौ-सौ बाँहों में, मेरी ज्योति प्रखर !

आपुलक गात मैं मलयवात,
मैं चिर-मिलनातुर जन्मजात;
तुम लज्जाधीर शरीर-प्राण
थर-थर कम्पित ज्यों स्वर्ण-पात,

कँपती छायावत् रात काँपते तम-प्रकाश आलिङ्गन भर !

आँखों से ओझल ज्योति-पात्र;
तुम गलित स्वर्ण की क्षीण धार;
स्वर्गिक विभूति उतरीं भू पर,
साकार हुई छवि निराकार,

तुम स्वर्गगंग, मैं गंगाधर, उतरो प्रियतर सिर आँखों पर !

नलकी में झलका अंगारक,
बूँदों में गुरु-उशना तारक,
शीतल शशि-ज्वाला की लपटों से
वसन, दमकती द्युति चम्पक,
तुम रत्न-दीप की रूप-शिखा, तन स्वर्ण-प्रभा, कुसुमित अम्बर!

चन्द्रकुँवर बर्त्वाल

मेघकृपा

जिन पर मेघों के नयन गिरे
वे सबके सब हो गये हरे।
पतझड़ का सुन कर करुण रुदन
जिसने उतार दे दिए वसन
उस पर निकले किशोर किसलय
कलियाँ निकलीं, निकला यौवन।
जिन पर वसन्त की पवन चली
वे सबकी सब खिल गईं कली।
सह स्वयं ज्येष्ठ की तीव्र तपन
जिसने अपने छायाश्रित जन
के लिए बनायी मधुर मही
लख उसे भरे नभ के लोचन।
लख जिन्हें गगन के नयन भरे
वे सबके सब हो गये हरे।

आओ हे नवीन युग

आओ हे नवीन युग
आओ हे सखा शान्ति के
चलकर झरे हुए पत्रों पर
गत अशान्ति के।
आओ बर्बरता के शव पर
अपने पग धर,
खिलो हँसी बनकर

पीड़ित उर के अधरों पर।
करो मुक्त लक्ष्मी को
धनियों के बन्धन से
खोलो सबकें लिए द्वार
सुख के नन्दन के।
दो भूखों को अन्न और मृतकों को जीवन
करो निराशों में आशा के बल का वितरण।
सिर नीचा कर चलता है जो,
जो अपने को पशुओं में गिनता है
रहता हाथ जोड़ जो उसे गर्व दो तुम
सिर ऊँचा कर चलने का
ईश्वर की दुनिया में भेद न होये कोई
रहें स्वर्ग में सभी, नरक सुख सहे न कोई।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

जूठे पत्ते

क्या देखा है तुमने नर को नर के आगे हाथ पसारे ?
क्या देखे हैं तुमने उसकी आँखों में खारे फ़व्वारे ?
देखे हैं ? फिर भी कहते हो कि तुम नहीं हो विप्लवकारी ?
तब तो तुम हिजड़े हो, या हो महा भयंकर अत्याचारी !

अरे चाटते जूठे पत्ते जिस दिन मैंने देखा नर को
उस दिन सोचा : क्यों न लगा दूँ आज आग इस दुनिया-भर को ?
यह भी सोचा : क्यों न टेंटुआ घोंटा जाय स्वयं जगपति का ?
जिसने अपने ही स्वरूप को रूप दिया इस घृणित विकृति का।

जगपति कहाँ ? अरे, सदियों से वह तो हुआ राख की ढेरी ;
वरना समता-संस्थापन में लग जाती क्या इतनी देरी ?
छोड़ आसरा अलख शक्ति का; रे नर, स्वयं जगत्पति तू है,
तू यदि जूठे पत्ते चाटे, तो मुझ पर लानत है, थू है !

कैसा बना रूप यह तेरा, घृणित, पतित, बीभत्स, भयंकर!
नहीं याद क्या तुझको, तू है चिर सुन्दर, नवीन प्रलयंकर ?
भिक्षा-पात्र फेंक हाथों से, तेरे स्नायु बड़े बलशाली,
अभी उठेगा प्रलय नींद से, तनिक बजा तू अपनी ताली।

ओ भिखमंगे, अरे पराजित, ओ मज़लूम, अरे चिरदोहित,
तू अखण्ड भाण्डार शक्ति का; जाग, अरे निद्रा-सम्मोहित,
प्राणों को तड़पाने वाली हुंकारों से जल-थल भर दे,
अनाचार के अम्बारों में अपना ज्वलित फलीता धर दे।

भूखा देख तुझे गर उमड़े आँसू नयनों में जग-जन के
तो तू कह दे : नहीं चाहिए हमको रोनेवाले जनखे;
तेरी भूख; असंस्कृति तेरी, यदि न उभाड़ सकें क्रोधानल,—
तो फिर, समझूँगा कि हो गयी सारी दुनिया कायर निर्बल।

विप्लव गायन

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आये एक हिलोर उधर से आये,
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि-त्राहि स्वर नभ में छाये,
नाश और सत्यानाशों का धुआँधार जग में छा जाये,
बरसे आग, जलद जल जाये भस्मसात् भूधर हो जायें,
पाप पुण्य सदसद् भावों की धूल उड़ उठे दायें-बायें,
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूक-टूक हो जायें,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये !

माता की छाती का अमृतमय पय कालकूट हो जाये,
आँखों का पानी सूखे, हाँ, वह खून की घूँट हो जाये,
एक ओर कायरता काँपे, गतानुगति विगलित हो जाये,
अन्धे मूढ़ विचारों की वह अचल शिला विचलित हो जाये,
और दूसरी ओर कँपा देने वाला गर्जन उठ धाये,
अन्तरिक्ष में एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मँडराये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये !

नियम और उपनियमों के ये बन्धन टूट-टूक हो जायें,
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जायें,
शान्ति दण्ड टूटे, उस महारुद्र का सिंहासन थर्राये,
उसकी शोषक श्वासोच्छ्वास, विश्व के प्रांगण में घहराये,
नाश! नाश!! हाँ, महानाश !!! की प्रलयंकरी आँख खुल जाये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये !

सावधान ! मेरी वीणा में चिनगारियाँ आन बैठी हैं,
टूटी हैं मिजराबें, युगलांगुलियाँ ये मेरी ऐंठी हैं,
कण्ठ रुका जाता है महानाश का गीत रुद्ध होता है।
आग लगेगी क्षण में, हृत्तल में अब क्षुब्ध युद्ध होता है।।
झाड़ और झंखाड़ व्याप्त हैं इस ज्वलन्त गायन के स्वर से।
रुद्ध गीत की क्षुब्ध तान निकली है मेरे अन्तर तर से।

कण कण में है व्याप्त वही स्वर, रोम-रोम गाता है वह ध्वनि,
वही तान गाती रहती है कालकूट फणि की चिन्तामणि,
जीवन ज्योति लुप्त है अहा ! सुप्त हैं संरक्षण की घड़ियाँ।
लटक रही हैं प्रतिपल में इस नाशक संभक्षण की लड़ियाँ।
चकनाचूर करो जग को गूँजे ब्रह्माण्ड नाश के स्वर से।
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तर तर से !

दिल को मसल-मसल मेंहदी रचवा आया हूँ मैं यह देखो—
एक-एक अंगुल-परिचालन में नाशक ताण्डव को पेखो !
विश्वमूर्ति ! हट जाओ, यह बीभत्स प्रहार सहे न सहेगा।
टुकड़े-टुकड़े हो जाओगी, नाश-मात्र अवशेष रहेगा।।
आज देख आया हूँ जीवन के सब राज़ समझ आया हूँ,
भ्रू-विलास में महानाश के, पोषक सूत्र परख आया हूँ;
जीवन गीत भुला दो कण्ठ मिला दो मृत्यु गीत के स्वर से।
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तरतर से !

जीवन में ज़ंजीर पड़ी खन-खन करती है मोहक स्वर से—
अन्दर आग छिपी है इसे भड़क उठने दो एक बार अब,
दहल जाए दिल, पैर लड़खड़ायें, कँप जाए कलेजा उनका,
नाश स्वयं कह उठे कड़क कर उस गभीर कर्कश-से स्वर से :
बरसों की साथिन हूँ तोड़ोगे क्या तुम अपने इस कर से ?
ज्वालामुखी शान्त है इसे कड़क उठने दो एक बार अब।
सिर चक्कर खाने लग जाये टूटे बन्धन शासन-गुण का।
'रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तर तर से'!

हंसकुमार तिवारी

खोया कुछ आँखों का पानी

खोया कुछ आँखों का पानी
कुछ व्यर्थ गई करुणा वाणी
जो बोल रहा था जादू बन
वह तो थी अपनी नादानी
जो क्षार बना देगी जग को
वह आग अभी तो बाक़ी है।

गा जिसे मूक होगी भाषा
जिस पर मिट जायेगी आशा
जिसकी बाज़ी पर फेंकूँगा
मैं क़िस्मत का अन्तिम पासा
हस्ती का अन्त जहाँ है
वह अनुराग अभी तो बाक़ी है

जग की आँखों में मैं हारा
हूँ विस्मृत, दुर्दिन का मारा
जीवन नभ में जो गया डूब
उगने से पहले वह तारा
पर पछताएगा जग जिसको
वह भाग अभी तो बाक़ी है।

मैं कहाँ अभी कुछ कह पाया
कितने दिन जग में रह पाया
इस समय स्रोत में जीवन का
यह यान कहाँ तक बह पाया
जो जाग उठेगा मौक़े से
वह राग अभी तो बाक़ी है।

मिट्टी वतन की पूछती

मिट्टी वतन की पूछती वह कौन है, वह कौन है,
इतिहास जिस पर मौन है?

जिसके लहू की बूँद का टीका हमारे भाल पर,
जिसके लहू की लालिमा, स्वातन्त्र्य-शिशु के भाल पर,
जो बुझ गया गिर कर गगन से, निमिष में तारा सदृश,
बच ओस जितना भी न पाया, अश्रु जिसका काल पर
जो दे गया जीवन विजन के फूल-सा हँस नाश को...
जिसके लिए दो बूँद भी स्याही नहीं इतिहास को?
वह कौन है ?

जिसके मरण के नेह से, दीपक नये युग का जला,
काजल नयन के मेह से, मरुथल मनुज-मन का फला,
चुनता गया पद-पद्म से, कंटक मनुज की राह का,
विष दासता को, मुक्ति को, निज मृत्यु का अमृत पिला,
चुभती न स्मृति जिसकी कभी, जो मैं किसी के शूल-सी,
झरते न जिस पर आँख से, दो आँसुओं के फूल ही !
वह कौन है ?

लगता नहीं उसकी चिता पर आज मेला ही यहाँ,
दो फूल क्या, मिलता किसी से हाय ढेला भी कहाँ ?
वह मातृभू पर मर गया, फिर भी रहा अनजान ही—
इस मुक्ति-उत्सव पर डला उस पर न धेला भी यहाँ;
वह कब खिला, कब झर गया अज्ञात हरसिंगार-सा
किसको पता है दासता के काल उस अंगार का ?
वह कौन है?

रामनरेश त्रिपाठी

स्वदेश गीत

सबको स्वतन्त्र कर दे यह संगठन हमारा।
छूटे स्वदेश ही की सेवा में तन हमारा।।

जब तक रहे फड़कती नस एक भी बदन में।
हो रक्त बूँद भर भी जब तक हमारे तन में।।
छीने न कोई हमसे प्यारा वतन हमारा।
छूटे स्वदेश ही की सेवा में तन हमारा।।

कोई दलित न जग में हमको पड़े दिखाई।
स्वाधीन हों सुखी हों सारे अछूत भाई।।
सबको गले लगा ले यह शुद्ध मन हमारा।
छूटे स्वेदश ही की सेवा में तन हमारा।।

अचरज नहीं कि साथी भग जाएँ छोड़ भय में।
घबराएँ क्यों? खड़े हैं भगवान जो हृदय में।।
धुन एक ध्यान में है, विश्वास है विजय में।
हम तो अचल रहेंगे तूफ़ान में प्रलय में।।
कैसे उजाड़ देगा कोई चमन हमारा?
छूटे स्वदेश ही की सेवा में तन हमारा।।

हम प्राण होम देंगे, हँसते हुए जलेंगे।
हर एक साँस पर हम आगे बढ़े चलेंगे।।
जब तक पहुँच न लेंगे तब तक न साँस लेंगे।
वह लक्ष्य सामने है पीछे नहीं टलेंगे।।
गायें सुयश ख़ुशी से जग में सुजन हमारा।
छूटे स्वदेश ही की सेवा में तन हमारा।।

अस्तोदय की वीणा

बाजे अस्तोदय की वीणा—क्षण-क्षण गगनांगण में रे।

हुआ प्रभात छिप गये तारे,
सन्ध्या हुई भानु भी हारे,

यह उत्थान पतन है व्यापक प्रति कण-कण में रे।

ह्रास विकास विलोक इन्दु में,
बिन्दु सिन्धु में सिन्धु बिन्दु में,

कुछ भी है थिर नहीं जगत के संघर्षण में रे।

ऐसी ही गति तेरी होगी,
निश्चित है क्यों देरी होगी,

गाफ़िल तू क्यों है विनाश के आकर्षण में रे।

निश्चय करके फिर न ठहर तू,
तन रहते प्रण पूरण कर तू,

विजयी बनकर क्यों न रहे तू जीवन-रण में रे?

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

किसी की याद में जागे

किसी की याद में जागे तुम्हारे नैन रतनारे।

किसी का स्वप्न बुनते रह गये ये रात भर चंचल
लगाकर पंख तितली के सितारों सँग उड़े पागल
शमा के आँसुओं में धुल गया इनका नया काजल
किसी की याद में जागे तुम्हारे नैन अरुणारे।

पिरोते रह गये ये रात भर किस रूप की माला
बसन्ती चाँद की किरणें न इनकी हर सकीं ज्वाला
छलकता रह गया इनकी प्रतीक्षा का भरा प्याला
किसी की याद में जागे तुम्हारे नैन कजरारे।

छमासी हो गयी थी रैन किसकी इन्तज़ारी में
अधूरी गीत की कोमल कड़ी किसकी खुमारी में
न जल पाया हृदय का दीप पूजा की तयारी में
किसी की याद में जागे तुम्हारे नैन रतनारे।

सुबह की नींद में मुँहबन्द कुमुदों से झुके जाते
पवन के शरबती झोंके इन्हें झूला झुला जाते
कफ़स में बन्द खंजन-से उलझते पर न उड़ पाते
किसी की याद में जागे तुम्हारे नैन रतनारे।

ठहर जाओ !

ठहर जाओ ! घड़ी भर और तुमको देख लें आँखें।

अभी कुछ देर मेरे कान में गूँजे तुम्हारा स्वर
बहे प्रतिरोम में मेरे सरस उल्लास का निर्झर,
बुझा दिल का दिया शायद किरण-सा खिल उठे जलकर
ठहर जाओ ! घड़ी भर और तुमको देख लें आँखें।

तुम्हारे रूप का सित आवरण कितना मुझे शीतल
तुम्हारे कंठ की मधु बंसरी जलधार-सी चंचल
तुम्हारी चितवनों की छाँह मेरी कामना उज्ज्वल
उलझतीं फड़फड़ातीं प्राणपंछी की तरुण पाँखें।

लुटाता फूल-सौरभ-सा तुम्हें मधुवात ले आया
गगन की दूधिया गंगा लिए ज्यों शशि उतर आया
ढहे मन के महल में भर गयी किस स्वप्न की माया
ठहर जाओ ! घड़ी भर और तुमको देख लें आँखें।

मुझे लगता तुम्हारे सामने मैं सत्य बन जाता
न मेरी पूर्णता को देवता कोई पहुँच पाता
मुझे चिर प्यास वह अमरत्व जिससे जगमगा जाता
ठहर जाओ ! घड़ी भर और तुमको देख लें आँखें।

जानकीवल्लभ शास्त्री

कंचन-महल नहाए बादल

क्या खाकर बौराए बादल ?
झुग्गी-झोंपड़ियाँ उजाड़ दीं
कंचन-महल नहाए बादल !

दूने सूने हुए भरे घर
लाल लुटे दृग में मोती भर,
निर्मलता नीलाम हो गयी
घेर अँधेर मचाए बादल !

जब धरती काँपी, बड़ बोले-
नभ उलीचने चढ़े हिंडोले,
पेंगे भर-भर ऊपर-नीचे
मियाँ मल्हार गुँजाए बादल !

काली रात, नखत की पाँतें—
आपस में करती हैं बातें
नई रोशनी कब फूटेगी ?
बदल-बदल दल छाए बादल !
कंचन-महल नहाए बादल !

मौज

सब अपनी-अपनी कहते हैं !
कोई न किसी की सुनता है,
नाहक कोई सिर धुनता है,
दिल बहलाने को चल फिर कर,
फिर सब अपने में रहते हैं !

सबके सिर पर है भार प्रचुर
सबका हारा बेचारा उर,
अब ऊपर ही ऊपर हँसते,
भीतर दुर्भर दुख सहते हैं !

ध्रुव लक्ष्य किसी को है न मिला,
सबके पथ में है शिला, शिला,
ले जाती जिधर बहा धारा,
सब उसी ओर चुप बहते हैं।

भगवतीचरण वर्मा

दीवानों की हस्ती

हम दीवानों की क्या हस्ती,
हैं आज यहाँ, कल वहाँ चले,
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले।

आए बनकर उल्लास अभी,
आँसू बनकर बह चले अभी,
सब कहते ही रह गये, अरे,
तुम कैसे आये, कहाँ चले ?

किस ओर चले? यह मत पूछो,
चलना है, बस इसलिए चले,
जग से उसका कुछ लिये चले,
जग को अपना कुछ दिये चले,

दो बात कही, दो बात सुनीं;
कुछ हँसे और फिर कुछ रोए।
छककर सुख-दुख के घूँटों को
हम एक भाव से पिए चले।

हम भिखमंगों की दुनिया में,
स्वच्छंद लुटाकर प्यार चले,
हम एक निसानी-सी उर पर,
ले असफलता का भार चले।

हम मानरहित, अपमान रहित,
जी भरकर खुलकर खेल चुके,
हम हँसते-हँसते आज यहाँ
प्राणों की बाजी हार चले।

हम भला-बुरा सब भूल चुके,
नतमस्तक हो मुख मोड़ चले,
अभिशाप उठाकर होठों पर,
वरदान दृगों से छोड़ चले।

अब अपना और पराया क्या ?
आबाद रहें रुकनेवाले !
हम स्वयं बँधे थे और स्वयं
हम अपने बन्धन तोड़ चले।

भैंसागाड़ी

चरमर चरमर चूँ चरर-मरर जा रही चली भैंसागाड़ी!
गति के पागलपन से प्रेरित चलती रहती संसृति महान्,
सागर पर चलते हैं जहाज़, अम्बर पर चलते वायुयान
भूतल के कोने-कोने में रेलों-ट्रामों का जाल बिछा,
हैं दौड़ रहीं मोटरें-बसें लेकर मानव का वृहत् ज्ञान।
पर इस प्रदेश में जहाँ नहीं उच्छ्वास, भावनाएँ, चाहें,
वे भूखे, अधखाये किसान भर रहे जहाँ सूनी आहें
नंगे बच्चे, चिथड़े पहने माताएँ जर्जर डोल रहीं
है जहाँ विवशता नृत्य कर रही धूल उड़ाती हैं राहें,
बीते युग की परछाईं-सी बीते युग का इतिहास लिए,
वे निपट घिनौने महापतित बौने-कुरूप, टेढ़े-मेढ़े!
उसका कुटुम्ब था भरा-पुरा आहों से, हाहाकारों से !
फ़ाकों से, लड़-लड़कर प्रतिदिन, घुट-घुटकर अत्याचारों से,
तैयार किया था उसने ही अपना छोटा-सा एक खेत !
बीवी-बच्चों से छीन, बीन दाना-दाना, अपने में भर
भूखे तड़पें या मरें, भरों का तो भरना है उसको घर!
धन की दानवता से पीड़ित कुछ फटा हुआ, कुछ कर्कश स्वर,
चरमर-चरमर चूँ चरर-मरर जा रही चली भैंसागाड़ी!

है बीस कोस पर एक नगर, उस एक नगर में एक हाट,
जिसमें मानव की दानवता फैलाए है निज राज-पाट
साहूकारों का भेस धरे हैं जहाँ चोर औ' गिरहकाट,
कल के उन तंद्रित सपनों में अब का निर्दय उपहास लिए
गति में किन सदियों की जड़ता ? मन में किस स्थिरता की ममता ?
अपनी जर्जर-सी छाती में अपना जर्जर विश्वास लिए
भर-भरकर फिर मिटने का स्वर, कँप-कँप उठते जिसके स्तर-स्तर
हिलती-डुलती, हँफती-कँपती कुछ रुक-रुककर, कुछ सिहर-सिहर,
चरमर-चरमर चूँ चरर-मरर जा रही चली भैंसागाड़ी !
उस ओर क्षितिज के कुछ आगे कुल पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर फोड़ों से हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर
मैं कहता हूँ खँड़हर उसको, पर वे कहते हैं उसे ग्राम,
जिसमें भर देती निज धुँधलापन असफलता की सुबह-शाम
पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ नारियाँ जन रही हैं गुलाम,
पैदा होना, फिर मर जाना, बस यह लोगों का एक काम
था वहीं कटा दो दिन पहले गेहूँ का छोटा एक खेत !
तुम सुख-सुषमा के लाल, तुम्हारा है विशाल वैभव-विवेक,
तुमने देखी हैं मान भरी उच्छृंखल सुन्दरियाँ अनेक
तुम भरे-पुरे, तुम हृष्ट-पुष्ट हो तुम समर्थ कर्ता-हर्ता,
तुमने देखा है क्या बोलो हिलता-डुलता कंकाल एक ?
वह था उसका ही खेत, जिसे उसने उन पिछले चार माह,
अपने शोणित को सुखा-सुखा, भर-भरकर अपनी विवश आह,
तैयार किया था, औ' घर में थी रही रुग्ण पत्नी कराह !
उसके वे बच्चे तीन, जिन्हें, माँ-बाप का मिला प्यार न था,
जो थे जीवन के व्यंग्य किन्तु, मरने का भी अधिकार न था,
थे क्षुधाग्रस्त बिलबिला रहे मानो वे मोरी के कीड़े,
है अभिशापों से घिरा जहाँ, पशुता का कलुषित ठाट-बाट !
उसमें चाँदी के टुकड़ों के बदले में लुटता है अनाज,
उन चाँदी के ही टुकड़ों से तो चलता है अब राज-काज
वह राज-काज, जो सधा हुआ है उन भूखे कंकालों पर,
इन साम्राज्यों की नीव पड़ी है तिल-तिल मिटनेवालों पर !

वे व्यापारी, वे जमींदार, वे हैं लक्ष्मी के परम भक्त,
वे निपट निरामिष सूदख़ोर, पीते मनुष्य का उष्ण रक्त ।
इस राज-काज के वही स्तम्भ, उनकी पृथ्वी, उनका ही धन,
ये ऐश और आराम उन्हीं के, और उन्हीं के स्वर्ग-सदन!

उस बड़े नगर का राग-रंग हँस रहा निरंतर पागल-सा,
उस पागलपन से ही पीड़ित कर रहे ग्राम अविकल क्रंदन !
चाँदी के टुकड़ों में विलास, चाँदी के टुकड़ों में है बल,
इन चाँदी के ही टुकड़ों में सब धर्म-कर्म, सब चहल-पहल !
इन चाँदी के ही टुकड़ों में है मानव का अस्तित्व विफल !

चाँदी के टुकड़ों को लेने प्रतिदिन पिसकर, भूखों मरकर,
भैंसागाड़ी पर लदा हुआ जा रहा चला मानव जर्जर
है उसे चुकाना सूद क़र्ज़, है उसे चुकाना अपना कर,
जितना ख़ाली है उसका घर उतना ख़ाली उसका अन्तर।

नीचे जलने वाली पृथ्वी, ऊपर जलनेवाला अम्बर,
औ, कठिन भूख की जलन लिये नर बैठा है बनकर पत्थर !
पीछे है पशुता का खँडहर, दानवता का सामने नगर,
मानव का कृश कंकाल लिए चरमर-चरमर चूँ चरर-मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी!

सुमित्राकुमारी सिन्हा

मुझे नहीं विश्राम

मुझे नहीं विश्राम आज गति मेरी है अविराम।

गाढ़ी साँझ सिन्धु के तट से हो जाती है पार,
उठती रात कराह अँधेरे से हो एकाकार,
टकराती हैं लहरें तट से ले अन्तिम उन्माद,
किन्तु न जाने कौन किया करता मुझसे संवाद ?
किसके प्रेरक आह्वानों से पूर्ण हुए निशि-याम,
मुझे नहीं विश्राम आज गति मेरी है अविराम।

ऊषा का उल्लास, साँझ का अलस मदिर अभिसार
पंछी के कंठों से निकला गीतों की मधु धार
किरणों की आभा में सुरभित हँसता मधुऋतु भोर
और सरित की कूल-विचुंबित उठती मंजु हिलोर
खींच न पाती है मेरे क्षण आज हुए निष्काम।
मुझे नहीं विश्राम आज गति मेरी है अविराम।

चित्र पूर्ण है, भूल गयी हूँ रेखा का इतिहास,
स्वयं रागिनी बनकर खोया स्वर का आज विकास
डूब चुका है ध्येय ध्यान में, पथ में मंज़िल द्वार
सपनों में अस्तित्व लुटा सो गयी नींद भी हार,
मूर्त कल्पना में पाया है मैंने जग अभिराम।
मुझे नहीं विश्राम, आज गति मेरी है अविराम।

रहा पंथ सूना न कोई

रहा पंथ सूना न कोई धरा का, पगों की शिथिल गति न फिर डगमगाई।
न अनगिन अधूरी रहीं कामनाएँ
न सीमित झुकी ही रहीं याचनाएँ
मृदुल बाँह में मधुमयी भावना की न तब से विकल सान्त्वना छटपटाई।
तुम्हें दी बिदाई।

उठीं झनझना लो जड़ित शृंखलाएँ,
खुलीं स्वप्नगढ़ की कठिन अर्गलाएँ,
न फिर फूल-सी एक नन्हीं हँसी में रहस्यान्विता वंचना खिलखिलाई।
तुम्हें दी बिदाई।

न अब प्यार का व्यंग्य मुझको पुकारे
न अब मोह के प्रश्न मुँह को निहारें,
न वरदान ने प्राण में शाप के फिर मधुर गुदगुदी एक क्षण को मचाई।
तुम्हें दी बदाई।

हुई अर्चना-गति तभी से अविचलित
रही आरती की शिखा भी अकम्पित,
अगम साधना पन्थ के बीच करुणा सहज लोचनों से न फिर छलछलाई।
तुम्हें दी बिदाई।

निशा नीड़ तजकर भले ही विवश से,
कहीं भी रहो मुक्त पंछी !देवस के,
क्षितिज की परिधि तक पहुँचकर कहीं तुम न फिर लौट पड़ना अगर याद आई।
तुम्हें दी बिदाई।

विद्यावती कोकिल

मुझको तेरी अस्ति छू गई

मुझको तेरी अस्ति छू गई है
अब न भार से विथकित होती हूँ
अब न ताप से विगलित होती हूँ
अब न शाप से विचलित होती हूँ
जैसे सब स्वीकार बन गया हो।
मुझको तेरी अस्ति छू गई है।

पर्वत का हित मुझको जड़ न बनाता
प्रकृति हृदय का तम न मुझे ढँक पाता
आज उदधि का ज्वार न मुझे डुबाता
जैसे सब शृंगार बन गया हो।
मुझको तेरी अस्ति छू गई है।

दरिद्रता का यह मतवाला नर्तन
पीड़ाओं का उसमें आशिष-वर्षन
तेरी चितवन का ज्यों मूक प्रदर्शन
तेरी मुख-अनुहार बन गया हो।
मुझको तेरी अस्ति छू गई है।

कौन गाता जा रहा है ?

कौन गाता जा रहा है ?
मौनता को शब्द देकर
शब्द में जीवन सँजोकर

कौन बन्दी भावना के
पर लगाता जा रहा है ?
कौन गाता जा रहा है ?

घोर तम में जी रहे जो
घाव पर भी घाव लेकर
कौन मति के इन अपंगों
को चलाता जा रहा है ?
कौन गाता जा रहा है ?

कौन बिछुड़े मन मिलाता
और उजड़े घर बसाता
संकुचित परिवार का
नाता बढ़ाता जा रहा है ?
कौन गाता जा रहा है ?

मृत्तिका में आज फिर
निर्माण का संदेश भर कर
खंडहरों के गिरे साहस
को उठाता जा रहा है ?
कौन गाता जा रहा है ?

फटा बनकर ज्योति-स्रावक
जोकि हिमगिरि की शिखा-सा
कौन गंगाधार-सा
अविरोध बहता जा रहा है ?
कौन गाता जा रहा है ?

रामधारी सिंह 'दिनकर'

कवि की मृत्यु

जब गीतकार मर गया, चाँद रोने आया,
चाँदनी मचलने लगी कफ़न बन जाने को।
मलयानिल ने शव को कन्धों पर उठा लिया,
वन ने भेजे चन्दन-श्रीखण्ड जलाने को।

सूरज बोला, यह बड़ी रोशनीवाला था,
मैं भी न जिसे भर सका कभी उजियाली से ;
रँग दिया आदमी के भीतर की दुनिया को
इस गायक ने अपने गीतों की लाली से !

बोला बूढ़ा आकाश, ध्यान जब यह धरता,
मुझ में यौवन का नया वेग जग जाता था।
इसके चिन्तन में डुबकी एक लगाते ही,
तन कौन कहे, मन भी मेरा रँग जाता था।

ां ने कहा, बड़ा दुख था इस के मन की
गहराई में डूबने और उतराने में।
माया बोली, मैं कई बार थी भूल गयी
अपने को गोपन भेद इसे बतलाने में

योगी था, बोला सत्य, भागता मैं फिरता,
यह जाल बढ़ाये हुए दौड़ता चलता था।
जब-जब लेता यह पकड़ और हँसने लगता,
धोखा दे दे मैं अपना रूप बदलता था।

मर्दों को आयीं याद बाँकपन की बातें,
बोले, जो हो, आदमी बड़ा अलबेला था।
जिसके आगे तूफ़ान अदब से झुकते हैं,
उसको भी इस ने अहंकार से झेला था।

नारियाँ बिलखने लगीं, बाँसुरी के भीतर
जादू था, कोई अदा बड़ी मतवाली थी,
गर्जन में भी थी नमी, आग से भरे हुए
गीतों में भी कुछ चीज़ रुलानेवाली थी।

वे बड़ी-बड़ी आँखें आँसू से भरी हुईं,
पानी में जैसे कमल डूब उतराता हो।
वह मस्ती में झूमते हुए उसका आना,
मानो, अपना ही तनय झूमता आता हो।

चिन्तन में डूबा हुआ, सरल, भोला-भाला
बालक था, कोई पुरुष दिव्य अवतारी था।
तुम तो कहते हो मर्द, मगर, मन के भीतर
यह कलावन्त हम से भी बढ़कर नारी था।

चुपचाप ज़िन्दगी भर इस ने जो जुल्म सहे,
उतना नारी भी कहाँ मौन हो सहती है ?
आँखों के आँसू मन के भेद जता जाते,
कुछ सोच-समझ जिह्वा चाहे चुप रहती है।

पर, इसे नहीं रोने का भी अवकाश मिला,
सारा जीवन कट गया आग सुलगाने में।
आख़िर, वह भी सो गया ज़िन्दगी ने जिसको.
था लगा रखा सोतों को छेड़ जगाने में।

बेबसी बड़ी उन बेचारों की क्या कहिए!
चुपचाप जिन्हें जीवन भर जलना होता है।

ऊपर-नीचे द्वेषों के कुन्त तने होते,
बचकर उनको बेदाग़ निकलना होता है।

जाओ, कवि, जाओ, मिला तुम्हें जो कुछ हम से,
दानी को उसके सिवा नहीं कुछ मिलता है।
चुन-चुनकर हम तोड़ते वही टहनी केवल
जिस पर कोई अपरूप कुसुम आ खिलता है।

विष के प्याले का मोल और क्या हो सकता?
प्रेमी तो केवल मधुर प्रीत ही देता है।
कवि को चाहे संसार भेंट दे जो, लेकिन,
बदले में वह निष्कपट गीत ही देता है।

आवरण गिरा, जगती की सीमा शेष हुई,
अब पहुँच नहीं तुम तक इन हाहाकारों की।
नीचे की महफ़िल उजड़ गयी, ऊपर कल से
कुछ और चमक उट्ठेगी सभा सितारों की।

जनतंत्र का जन्म
(26 जनवरी, 1950)

सदियों की ठण्डी-बुझी राख सुगबुगा उठी,
मिट्टी सोने का ताज पहन इठलाती है ;
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन ख़ाली करो कि जनता आती है।

जनता ? हाँ, मिट्टी की अबोध मूरतें वही,
जाड़े-पाले की कसक सदा सहनेवाली,
जब अंग-अंग में लगे साँप हों चूस रहे,
तब भी न कभी मुँह खोल दर्द कहनेवाली।

जनता ? हाँ, लम्बी-बड़ी जीभ की वही क़सम,
"जनता, सचमुच ही, बड़ी वेदना सहती है।"
"सो ठीक, मगर, आख़िर, इस पर जनमत क्या है?"
"है प्रश्न गूढ़; जनता इस पर क्या कहती है ?"

मानो, जनता हो फूल जिसे एहसास नहीं,
जब चाहो तभी उतार सजा लो दोनों में;
अथवा कोई दुधमुँही जिसे बहलाने के
जन्तर-मन्तर सीमित हों चार खिलौनों में।

लेकिन, होता भूडोल, बवण्डर उठते हैं,
जनता 'जब कोपाकुल हो भृकुटि चढ़ाती है;
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन ख़ाली करो कि जनता आती है।

हुंकारों से महलों की नींव उखड़ जाती,
साँसों के बल से ताज हवा में उड़ता है;
जनता की रोके राह, समय में ताब कहाँ?
वह जिधर चाहती, काल उधर ही मुड़ता है।

अब्दों, शताब्दियों, सहस्राब्द का अन्धकार
बीता; गवाक्ष अम्बर के दहके जाते हैं;
यह और नहीं कोई, जनता के स्वप्न अजय
चीरते तिमिर का वक्ष उमड़ते आते हैं।

सबसे विराट् जनतन्त्र जगत् का आ पहुँचा,
तैंतीस कोटि-हित सिंहासन तैयार करो;
अभिषेक आज राजा का नहीं, प्रजा का है,
तैंतीस कोटि जनता के सिर पर मुकुट धरो।

आरती लिये तू किसे ढूँढ़ता है मूरख,
मन्दिरों, राजप्रासादों में, तहख़ानों में ?

देवता कहीं सड़कों पर गिट्टी तोड़ रहे,
देवता मिलेंगे खेतों में, खलिहानों में।

फावड़े और हल राजदण्ड बनने को हैं,
धूसरता सोने से शृंगार सजाती है;
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन ख़ाली करो कि जनता आती है।

अज्ञेय

प्राण तुम्हारी पदरज फूली

प्राण तुम्हारी पदरज फूली
मुझको कंचन हुई तुम्हारे चंचल चरणों की यह धूली!

आई थीं तो जाना भी था—
फिर भी आओगी, दुख किसका ?
एक बार जब दृष्टिकरों से पदचिन्हों की रेखा छू ली!

वाक्य अर्थ का हो प्रत्याशी,
गीत शब्द का कब अभिलाषी?
अन्तर में पराग-सी छाई है स्मृतियों की आशा धूली।
प्राण तुम्हारी पदरज फूली!

पानी बरसा

ओ पिया, पानी बरसा!

घास हरी हुलसानी
मानिक के झूमर-सी झूमी मधु-मालती
झर पड़े जीते पीत अमलतास
चातकी की वेदना बिरानी।
बादलों का हाशिया है आसपास—
बीच लिखी पाँत काली बिजली की—
कुंजों की डार कि आषाढ़ की निशानी
ओ पिया, पानी!
मेरा जिया हरसा।

खड़खड़ कर उठे गात।
देखने को आँखें घेरने को बाँहें।
पुरानी कहानी?
ओठ को ओठ, वक्ष को वक्ष—
ओ पिया, पानी !
मेरा हिया तरसा।
ओ पिया, पानी बरसा!

रामविलास शर्मा

समुद्र के किनारे

सागर लम्बी साँसें भरता है,
सिर धुनती है लहर-लहर;
बूँदी-बादर में एक वही स्वर
गूँज रहा है हहर-हहर।
सागर की छाती से उठकर
यह टकराती है कहाँ लहर?
जिस ठौर हृदय में जलती है
वह याद तुम्हारी आठ पहर।
बस एक नखत ही चमक रहा है
अब भी काली लहरों पर,
जिसको न अभी तक ढँक पाये हैं
सावन के बूँदी-बादर।
यह जीवन यदि अपना होता
यदि वश होता अपने ऊपर,
यह दुखी हृदय भी भर आता
भूले दुख से जैसे सागर।
वह डूब गया चंचल तारा
जो चमक रहा था लहरों पर,
सावन के बूँदी-बादर में
अब एक वही स्वर हहर-हहर।
सागर की छाती से उठकर
यह टकराती है कहाँ लहर?
जिस ठौर नखत वह बुझकर भी
जलता रहता है आठ पहर।
सागर लम्बी साँसें भरता है

सिर धुनती है लहर-लहर,
पर आगे बढ़ता है मानव
अपनेपन से ऊपर उठकर।
आगे सागर का जल अथाह
ऊपर हैं नीर-भरे बादर,
बढ़ता है फिर भी जन-समूह
जल की इस जड़ता के ऊपर।
बैठा है कौन किनारे पर,
यह गरज रहा है जन-सागर,
पीछे हटकर सिर धुन कर भी
आगे बढ़ती है लहर-लहर।
दुख के इस हहर-हहर में भी
ऊँचा उठता है जय का स्वर;
सीमा के बन्धन तोड़ रही है
सागर की प्रत्येक लहर।

चाँदनी

चाँदी की झीनी चादर-सी
फैली है वन पर चाँदनी।
चाँदी का झूठा पानी है
यह माह-पूस की चाँदनी।
खेतों पर ओस-भरा कुहरा,
कुहरे पर भीगी चाँदनी।
आँखों में बादल-से आँसू,
हँसती है उन पर चाँदनी।
दुख की दुनिया पर बुनती है
माया के सपने चाँदनी।
लोहे की हथकड़ियों-सा दुख,
सपनों-सी झूठी चाँदनी;
लोहे-से दुख को काटे क्या

सपनों-सी मीठी चाँदनी।
यह चाँद चुराकर लाया है
सूरज से अपनी चाँदनी।
सूरज निकला, अब चाँद कहाँ?
छिप गयी लाज से चाँदनी :
दुख और कर्म का यह जीवन,
वह चार दिनों की चाँदनी।
यह कर्म-सूर्य की ज्योति अमर,
वह अन्धकार की चाँदनी।

नागार्जुन

पीपल के पत्तों पर

पीपल के पत्तों पर फिसल रही चाँदनी
नालियों के भीगे हुए पेट पर, पास ही
जम रही, घुल रही, पिघल रही चाँदनी
पिछवाड़े, बोतल के टुकड़ों पर—
चमक रही, दमक रही, मचल रही चाँदनी
दूर उधर, बुर्ज़ी पर उछल रही चाँदनी।

आँगन में, दूबों पर गिर पड़ी—
अब मगर, किस कदर, सँभल रही चाँदनी
वो देखो सामने—
पीपल के पत्तों पर फिसल रही चाँदनी।

कालिदास

कालिदास ! सच-सच बतलाना
इन्दुमती के मृत्युशोक से
अज रोया या तुम रोये थे ?
कालिदास ! सच-सच बतलाना।

शिवजी की तीसरी आँख से,
निकली हुई महाज्वाला में,
घृतमिश्रित सूखी समिधा-सम
कामदेव जब भस्म हो गया,
रति का क्रंदन सुन आँसू से

तुमने ही तो दृग धोये थे—
कालिदास ! सच-सच बतलाना
रति रोयी या तुम रोये थे?

वर्षा ऋतु की स्निग्ध भूमिका,
प्रथम दिवस आषाढ़ मास का
देख गगन में श्याम घन-घटा,
विधुर यक्ष का मन जब उचटा,
खड़े-खड़े तब हाथ जोड़कर
चित्रकूट के सुभग शिखर पर
उस बेचारे ने भेजा था
जिनके ही द्वारा सन्देशा,
उन पुष्करावर्त मेघों का
साथी बनकर उड़नेवाले—
कालिदास ! सच-सच बतलाना
पर पीड़ा से पूर-पूर हो
थक-थककर औ चूर-चूर हो
अमल-धवल गिरि के शिखरों पर
प्रियवर! तुम कब तक सोये थे?
रोया यक्ष कि तुम रोये थे ?
कालिदास ! सच-सच बतलाना।

हरिवंशराय 'बच्चन'

मुझे पुकार लो

इसीलिए खड़ा रहा
कि तुम मुझे पुकार लो !

(1)

ज़मीन है न बोलती
न आसमान बोलता,
जहान देख कर मुझे
नहीं ज़बान खोलता,
नहीं जगह कहीं जहाँ
न अजनबी गिना गया,
कहाँ-कहाँ न फिर चुका
दिमाग़-दिल टटोलता,
कहाँ मनुष्य है कि जो
उमीद छोड़कर जिया,
इसीलिए अड़ा रहा
कि तुम मुझे पुकार लो;
इसीलिए खड़ा रहा
कि तुम मुझे पुकार लो !

(2)

तिमिर-समुद्र कर सकी
न पार नेत्र की तरी,
विनष्ट स्वप्न में लदी,
विषाद याद से भरी,
न कूल भूमि का मिला,
न कोर भोर की मिली,

न कट सकी, न घट सकी
विरह-घिरी विभावरी,
कहाँ मनुष्य है जिसे
कमी खली न प्यार की,
इसीलिए खड़ा रहा
कि तुम मुझे दुलार लो!
इसीलिए खड़ा रहा
कि तुम मुझे पुकार लो !

(3)

उजाड़ से लगा चुका
उमीद मैं बहार की,
निदाघ से उमीद की
बसन्त के बयार की,
मरुस्थली मरीचिका
सुधामयी मुझे लगी,
अंगार से लगा चुका
उमीद मैं तुषार की,
कहाँ मनुष्य है जिसे
न भूल शूल-सी गड़ी,
इसीलिए खड़ा रहा
कि भूल तुम सुधार लो!
इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो!
पुकार कर दुलार लो, दुलार कर सुधार लो!

अग्नि पथ

अग्नि पथ ! अग्नि पथ! अग्नि पथ !

वृक्ष हों भले खड़े,
हों घने, हों बड़े,

एक पत्र-छाँह भी माँग मत, माँग मत, माँग मत!
अग्नि पथ ! अग्नि पथ ! अग्नि पथ!

तू न थकेगा कभी !
तू न थमेगा कभी !
तू न मुड़ेगा कभी !—कर शपथ, कर शपथ, कर शपथ!
अग्नि पथ ! अग्नि पथ ! अग्नि पथ !

यह महान दृश्य है—
चल रहा मनुष्य है
अश्रु-स्वेद-रक्त से लथपथ, लथपथ, लथपथ, लथपथ,
अग्नि पथ ! अग्नि पथ ! अग्नि पथ !

बालकृष्ण राव

कौन जाने ?

झुक रही है भूमि बायीं ओर, फिर भी
कौन जाने ?
नियति की आँखें बचाकर,
आज धारा दाहिने बह जाय।

जाने किस किरण-शर के वरद आघात से
निर्वर्ण रेखा-चित्र, बीती रात का,
कब रँग उठे। सहसा मुखर हो
मूक क्या कह जाय?

'सम्भव क्या नहीं है आज—
लोहित लेखनी प्राची क्षितिज की,
कर रही है प्रेरणा, यह प्रश्न अंकित ? कौन जाने
आज ही निःशेष हों सारे सँजोये स्वप्न,
दिन की सिद्धियों में
कौन जाने
शेष फिर भी,
एक नूतन स्वप्न की सम्भावना रह जाय।

आज ही होगा

मानना चाहता है आज ही ?
तो मान ले
त्यौहार का दिन
आज ही होगा।

उमंगें यों अकारण ही नहीं उठतीं;
न अनदेखे इशारों पर,
कभी यों नाचता है मन।
खुले-से लग रहे हैं द्वार मन्दिर के ?
बढ़ा पग–
मूर्ति के शृंगार का दिन
आज ही होगा।

न जाने आज क्यों जी चाहता है
स्वर मिलाकर
अनसुने स्वर में किसी के
कर उठे जयकार।
न जाने क्यों
बिना पाये हुए ही दान,
याचक मन
विकल है
व्यक्त करने के लिए आभार।
कोई तो, कहीं तो,
प्रेरणा का स्रोत होगा ही,
उमंगें यों अकारण ही नहीं उठतीं,
नदी में बाढ़ आयी है,
कहीं पानी गिरा होगा।

अचानक शिथिल-बन्धन हो रहा है आज
मोहाच्छन्न बन्दी मन–
किसी की हो
कहीं कोई भगीरथ-साधना पूरी हुई होगी,
किसी भागीरथी के भूमि पर अवतार का दिन
आज ही होगा।

गोपाल सिंह नेपाली

उस पार

उस पार कहीं बिजली चमकी होगी
जो झलक उठा है मेरा भी आँगन।

उन मेघों में जीवन उमड़ा होगा
उन झोंकों में यौवन घुमड़ा होगा
उन बूँदों में तूफ़ान उठा होगा
कुछ बनने का सामान जुटा होगा
उस पार कहीं बिजली चमकी होगी
जो झलक उठा है मेरा भी आँगन।

तप रही धरा यह प्यासी भी होगी
फिर चारों ओर उदासी भी होगी
प्यासे जग ने माँगा होगा पानी
करता होगा सावन आनाकानी
उस ओर कहीं छाये होंगे बादल
जो भर-भर आये मेरे भी लोचन।

मैं नई-नई कलियों में खिलता हूँ
सिहरन बनकर पत्तों में हिलता हूँ
परिमल बनकर झोंकों में मिलता हूँ
झोंका बनकर झोंकों में मिलता हूँ
उस झुरमुट में बोली होगी कोयल
जो झूम उठा है मेरा भी मधुबन।

मैं उठी लहर की भरी जवानी हूँ
मैं मिट जाने की नई कहानी हूँ

मेरा स्वर गूँजा है तूफ़ानों में
मेरा जीवन आजाद तरानों में
ऊँचे स्वर में गरजा होगा सागर
खुल गये भँवर में लहरों के बन्धन।

मैं गाता हूँ जीवन की सुन्दरता
यौवन का यश भी मैं गाया करता
मधु बरसाती मेरी वाणी-वीणा
बाँटा करती समता-ममता-करुणा
पर आज कहीं कोई रोया होगा
जो करती वीणा क्रन्दन ही क्रन्दन।

जवानी के क्षण में

कुछ ऐसा खेल रचो साथी !
कुछ जीने का आनन्द मिले
कुछ मरने का आनन्द मिले
दुनिया के सूने ऑगन में कुछ ऐसा खेल रचो साथी !

यह मरघट का सन्नाटा तो रह-रहकर काटे जाता है
दुख-दर्द तबाही से दबकर मुफ़लिस का दिल चिल्लाता है
यह झूठा सन्नाटा टूटे
पापों का भरा घड़ा फूटे
तुम ज़ंजीरों के झनझन में, कुछ ऐसा खेल रचो साथी !

यह उपदेशों का संचित रस तो फीका-फीका लगता है
सुन धर्म-कर्म की ये बातें दिल में अंगार सुलगता है
चाहे यह दुनिया जल जाये
मानव का रूप बदल जाये
तुम आज जवानी के क्षण में कुछ ऐसा खेल रचो साथी !

यह दुनिया सिर्फ़ सफलता का उत्साहित क्रीड़ा-कलरव है
यह जीवन केवल जीतों का मोहक मतवाला उत्सव है
तुम भी चेतो मेरे साथी
तुम भी जीतो मेरे साथी
संघर्षों के निष्ठुर रण में, कुछ ऐसा खेल रचो साथी !

जीवन की चंचल धारा में जो धर्म बहे बह जाने दो
मरघट की राखों में लिपटी जो लाश रहे रह जाने दो
कुछ आँधी-अंधड़ आने दो
कुछ और बवंडर लाने दो
नवजीवन में, नवयौवन में, कुछ ऐसा खेल रचो साथी !

जीवन तो वैसे सबका है, तुम जीवन का शृंगार बनो
इतिहास तुम्हारा राख बना, तुम राखों में अंगार बनो
अय्याश जवानी होती है
गत-वयस कहानी होती है
तुम अपने सहज लड़कपन में, कुछ ऐसा खेल रचो साथी!

शमशेर बहादुर सिंह

स्वतन्त्रता दिवस पर

फिर वह एक हिलोर उठी—
        गाओ !
वह मज़दूर किसानों के स्वर कठिन हठी
कवि हे, उनमें ·अपना हृदय मिलाओ!
उनके मिट्टी के तन में है अधिक आग,
        है अधिक ताप!
        उस में कवि हे,
अपने विरह मिलन के पाप जलाओ!
काट बुर्जुआ भावों की गुमठी को—
        गाओ !
अति उन्मुक्त नवीन प्राण स्वर कठिन हठी!
कवि हे, उनमें अपना हृदय मिलाओ!
        सड़े पुराने अन्ध-कूप गीतों के
        अर्थहीन हैं भाव, मूक भीतों के—
उन्हें अपरिचय का लांछन दे बिलकुल आज भुलाओ।
        नूतन प्राण-हिलोर उठी
तुम, जिस ओर उठी, उठ जाओ!
        कवि हे...

एक स्वप्न

कौन आज मुझे ख़ास बात समझाने को
दिल में आता है
और दूर से यह गाता है !

"सुनता हूँ, साह कोई मरा,
और एक चोर नहीं डरा, नहीं डरा।
रात हुई ख़तम, दिन जब आलोक से भरा,—
उतरी एक लाल परी
उसको पिलाने को स्वर्ग की लाल मदिरा।
'नहीं, नहीं, नहीं पिऊँगा—मैं अभी और जिऊँगा।'
ओस चमकी हरी-नीली। दूर तक खेत लहरा।
बोली वह आँखों में, बिजली की भाषा में—
'चल, यहाँ कौन ठहरा!'
सुन यह, स्वप्न-चोर ताकने लगा उदास
नभ ओर, ताकने लगा नभ ओर, ताकने लगा।"

सुनकर मन पछताता है :
आह, मैं चोर न हुआ !
हाय, मुझे कुछ नहीं आता है !
जग से मरने का ही मेरा नाता है!
खाने को, जीवन—पेट दिखलाता है जग में, बस!
हाय, वह बिजली-परी, लाल-लाल मदिरा लिए
मेरे दिल से न उतरी !
जीना तो मुझको भी आता है !

भवानी प्रसाद मिश्र

कमल के फूल

फूल लाया हूँ कमल के।
क्या करूँ इनका ?
पसारें आप आँचल,
छोड़ दूँ;
हो जाय जी हलका!

किन्तु होगा क्या कमल के फूल का ?

कुछ नहीं होता
किसी की भूल का
मेरी कि तेरी हो
ये कमल के फूल केवल भूल हैं।
भूल से आँचल भरूँ ना
गोद में इन को सँभाले
मैं वज़न इन के करूँ—ना।

ये कमल के फूल
लेकिन मानसर के हैं
इन्हें हूँ बीच से लाया
न समझो तीर पर के हैं।

भूल भी यदि है
अछूती भूल है!
मानसरवाले
कमल के फूल हैं।

बूँद टपकी एक नभ से

बूँद टपकी एक नभ से,
किसी ने झुक कर झरोखे से
कि जैसे हँस दिया हो,
हँस रही-सी आँख ने जैसे
किसी को कस दिया हो;
ठगा-सा कोई किसी की आँख
देखे रह गया हो,
उस बहुत-से रूप को, रोमांच रोके
सह गया हो।
बूँद टपकी एक नभ से,
और जैसे पथिक
छू मुस्कान, चौंके और घूमे
आँख उस की, जिस तरह
हँसती हुई-सी आँख चूमे,
उस तरह मैंने उठाई आँख :
बादल फट गया था,
चन्द्र पर आता हुआ-सा अभ्र
थोड़ा हट गया था।
बूँद टपकी एक नभ से
ये कि जैसे आँख मिलते ही
झरोखा बन्द हो ले
और नूपुर ध्वनि, झमक कर,
जिस तरह द्रुत छन्द हो ले,
उस तरह बादल सिमट कर,
चन्द्र पर छाये अचानक,
और पानी के हज़ारों बूँद
तब आये अचानक।

केदारनाथ अग्रवाल

माझी न बजाओ वंशी

माझी न बजाओ वंशी
मेरा मन डोलता।
मेरा मन डोलता है
जैसे जल डोलता।
जल का जहाज़ जैसे
पल-पल डोलता।
माझी न बजाओ वंशी, मेरा मन डोलता।

माझी न बजाओ वंशी
मेरा प्रन टूटता,
मेरा प्रन टूटता है
जैसे तृन टूटता,
तृन का निवास जैसे
वन-वन टूटता।
माझी न बजाओ वंशी, मेरा प्रन टूटता।

माझी न बजाओ वंशी,
मेरा तन झूमता।
मेरा तन झूमता है
तेरा तन झूमता,
मेरा तन तेरा तन एक बन झूमता,
माझी न बजाओ वंशी, मेरा तन झूमता।

टूटें न तार

टूटें न तार तने जीवन-सितार के।

ऐसा बजाओ इन्हें प्रतिभा की ताल से
किरनों से कुंकुम से सेंदुर-गुलाल से
लज्जित हो युग का अँधेरा निहार के !

ऐसा बजाओ इन्हें ममता की ज्वाल से
फूलों की उँगली के कोमल प्रवाल से
पूरे हों सपने अधूरे सिंगार के।

ऐसा बजाओ इन्हें सौरभ के श्वास से,
आशा की भाषा से, यौवन के हास से
छाया वसन्त रहे उपवन में प्यार के।
टूटें न तार तने जीवन-सितार के।

त्रिलोचन

एक लहर फैली अनंत की

सीधी है भाषा बसन्त की

कभी आँख ने समझी
कभी कान ने पायी
कभी रोम-रोम से
प्राणों में भर आयी
और है कहानी दिगन्त की

नीले आकाश में
नयी ज्योति छा गयी
कब से प्रतीक्षा थी
वही बात आ गयी
एक लहर फैली अनन्त की।

लहरों में साथ रहे कोई

बाँह गहे कोई

अपरिचय के
सागर में
दृष्टि को पकड़कर
कुछ बात कहे कोई।

लहरें ये
लहरें वे
इनमें ठहराव कहाँ
पल
दो पल
लहरों में साथ रहे कोई।

शिवमंगल सिंह 'सुमन'

विवशता

मैं नहीं आया तुम्हारे द्वार
पथ ही मुड़ गया था।

गति मिली मैं चल पड़ा
पथ पर कहीं रुकना मना था,
राह अनदेखी, अजाना देश
संगी अनसुना था।
चाँद सूरज की तरह चलता
न जाना रात-दिन है,
किस तरह हम तुम गए मिल
आज भी कहना कठिन है,
तन न आया माँगने अभिसार
मन ही जुड़ गया था।

देख मेरे पंख चल, गतिमय
लता भी लहलहाई
पत्र आँचल में छिपाए मुख
कली भी मुस्कुराई।
एक क्षण को थम गए डैने
समझ विश्राम का पल
पर प्रबल संघर्ष बनकर
आ गयी आँधी सदल-बल।
डाल झूमी, पर न टूटी
किन्तु पंछी उड़ गया था।

मिट्टी की महिमा

निर्मम कुम्हार की थापी से
कितने रूपों में कुटी-पिटी,
हर बार बिखेरी गयी किन्तु
मिट्टी फिर भी तो नहीं मिटी।
आशा में निश्छल पल जाए, छलना में पड़कर छल जाए,
सूरज दमके तो तप जाए, रजनी ठुमके तो ढल जाए,
यों तो बच्चों की गुड़िया-सी भोली मिट्टी की हस्ती क्या,
आँधी आए तो उड़ जाये, पानी बरसे तो गल जाए,

फ़सलें उगतीं, फ़सलें कटतीं लेकिन धरती चिर उर्वर है।
सौ बार बने सौ बार मिटे लेकिन मिट्टी अविनश्वर है।
मिट्टी गल जाती पर उसका विश्वास अमर हो जाता है!

विरचे शिव, विष्णु, विरंचि विपुल
अगणित ब्रह्माण्ड हिलाए हैं,
पलने में प्रलय झुलाया है
गोदी में कल्प खिलाए हैं।
रो दे तो पतझर आ जाए, हँस दे तो मधुऋतु छा जाए,
झूमे तो नंदन झूम उठे, थिरके तो ताण्डव शरमाए,
यों मदिरालय के प्याले-सी मिट्टी की मोहक मस्ती क्या,
अधरों को छूकर सकुचाए, ठोकर लग जाए छहराए।

उनचास मेघ, उनचास पवन, अम्बर अवनी कर देते सम,
वर्षा थमती, आँधी रुकती, मिट्टी हँसती रहती हरदम।
कोयल उड़ जाती पर उसका निश्वास अमर हो जाता है
मिट्टी गल जाती पर उसका विश्वास अमर हो जाता है!

मिट्टी की महिमा मिटने में

मिट-मिट हर बार सँवरती है,

मिट्टी मिट्टी पर मिटती है

मिट्टी मिट्टी को रचती है।

मिट्टी में स्वर है, संयम है, होनी—अनहोनी कह जाए,
हँसकर हालाहल पी जाए, छाती पर सब-कुछ सह जाए,
यों तो ताशों के महलों-सी मिट्टी की वैभव-बस्ती क्या,
भूकम्प उठे तो ढह जाए, बाढ़ आ जाए तो बह जाए।

लेकिन मानव का फूल खिला जबसे आकर वाणी का वर,
विधि का विधान लुट गया स्वर्ग अपवर्ग हो गये न्यौछावर
कवि मिट जाता लेकिन उसका उच्छ्वास अमर हो जाता है
मिट्टी गल जाती, पर उसका विश्वास अमर हो जाता है!

नेमिचंद्र जैन

धूल-भरी दोपहरी

धूल-भरी दोपहरी
जगती के कण-कण में गूँजी आकुल-सी स्वर लहरी
सरल पल आते-जाते
करुण सिकता भर लाते
एक मूर्च्छना-सी प्राणों पर बेमाने बरसाते
अलसता होती गहरी।

मधुर अनमनी उदासी
एक धूमिल रेखा-सी–
छायी है; बहता जाता है पवन अरुक संन्यासी
कौन देश की ठहरी?
आकर यों चल दिए कहाँ ओ जग के चंचल प्रहरी!

आगे गहन अँधेरा है

आगे गहन अँधेरा है, मन रुक-रुक जाता है एकाकी
अब भी है टूटे प्राणों में किस छवि का आकर्षण बाक़ी?
चाह रहा है अब भी यह पापी दिल पीछे को मुड़ जाना,
एक बार फिर से दो नैनों के नीलम-नभ में उड़ जाना,
उभर-उभर आते हैं मन में वे पिछले स्वर सम्मोहन के,
गूँज गये थे पल-भर को बस प्रथम प्रहर में जो जीवन के;
किन्तु अँधेरा है यह, मैं हूँ, मुझको तो है आगे जाना–
जाना ही है–पहन लिया है मैंने मुसाफ़िरी का बाना।
आज मार्ग में मेरे अटक न जाओ यों, ओ सुधि की छलना!
है निस्सीम डगर मेरी, मुझको तो सदा अकेले चलना,

इस दुर्भेद्य अँधेरे के उस पार मिलेगा मन का आलम;
रुक न जाए सुधि के बाँधों से प्राणों की यमुना का संगम,
खो न जाए द्रुत से द्रुततर बहते रहने की साध निरन्तर,
मेरे उसके बीच कहीं रुकने से बढ़ न जाए यह अन्तर।

आरसी प्रसाद सिंह

चाँद को देखो

चाँद को देखो चकोरी के नयन से
माप चाहे जो धरा की हो गगन से।

मेघ के हर ताल पर
नव नृत्य करता
राग जो मल्हार
अम्बर में उमड़ता

आ रहा इंगित मयूरी के चरण से
चाँद को देखो चकोरी के नयन से।

दाह कितनी
दीप के वरदान में है
आह कितनी
प्रेम के अभिमान में है

पूछ लो सुकुमार शलभों की जलन से
चाँद को देखो चकोरी के नयन से।

लाभ अपना
वासना पहचानती है
किन्तु मिटना
प्रीति केवल जानती है

माँग लो रे अमृत जीवन का मरण से
चाँद को देखो चकोरी के नयन से
माप चाहे जो धरा की हो गगन से।

नये जीवन का गीत

मैंने एक किरण माँगी थी, तूने तो दिनमान दे दिया।
चकाचौंध से भरी चमक का जादू तड़ित्-समान दे दिया।
मेरे नयन सहेंगे कैसे यह अमिताभा, ऐसी ज्वाला ?
मरुमाया की यह मरीचिका ? तुहिनपर्व की यह वरमाला ?
हुई यामिनी शेष न मधु की, तूने नया विहान दे दिया।
मैंने एक किरण माँगी थी, तूने तो दिनमान दे दिया।

अपने मन के दर्पण में मैं किस सुन्दर का रूप निहारूँ?
नव-नव गीतों की यह रचना किसके इंगित पर बलिहारूँ ?
मानस का मोती लेगी वह कौन अगोचर राजमराली ?
किस वनमाली के चरणों में अर्पित होगी पूजा-थाली ?
एक पुष्प के लोभी मधुकर को वसन्त-उद्यान दे दिया।
मैंने एक किरण माँगी थी, तूने तो दिनमान दे दिया।

मलयानिल होता, तो मेरे प्राण सुमन-से फूले होते।
पल्लव-पल्लव की डालों पर हौले-हौले झूले होते।
एक चाँद होता, तो सारी रात चकोर बना रह जाता।
किन्तु, निबाहे कैसे कोई लाख-लाख तारों से नाता?
लघु प्रतिमा के एक पुजारी को अतुलित पाषाण दे दिया।
मैंने एक किरण माँगी थी, तूने तो दिनमान दे दिया।

ओ अनन्त करुणा के सागर, ओ निर्बन्ध मुक्ति के दानी।
तेरी अपराजिता शक्ति का हो न सकूँगा मैं अभिमानी।
कैसे घट में सिन्धु समाए ? कैसे रज से मिले धराधर।
एक बूँद के प्यासे चातक के अधरों पर उमड़ा सागर।
देवालय की ज्योति बनाकर दीपक को निर्वाण दे दिया।
मैंने एक किरण माँगी थी, तूने तो दिनमान दे दिया।

मुँहमाँगा वर देकर तूने मेरा मंगल चाहा होगा।
शायद मैंने भी याचक बन अपना भाग्य सराहा होगा।
इसीलिए, तूने गुलाब को क्या काँटों की सेज सुलाया?
रत्नाकर के अन्तस्तल में दारुण बड़वानल सुलगाया?
अपनी अन्ध वन्दना को क्यों मेरा मर्मस्थान दे दिया ?
मैंने एक किरण माँगी थी, तूने तो दिनमान दे दिया!

प्रभाकर माचवे

राही से

इस मुसाफ़िरी का कुछ न ठिकाना, भइया !
याँ हार बन गया अदना दाना, भइया।
है पता न कितनी और दूर है मंज़िल
हम ने तो जाना केवल जाना, भइया !

तकरार न करना जाना है एकाकी
हमराह बचेगा कौन भला अब बाक़ी
जब सम्बल भी सब एक-एक कर छुटता
बस बची एक झाँकी उन नक़्शे-पा की।

छूट चले राह में नये-पुराने साथी
मिट गयी मार्गदर्शक यह कम्पित बाती
नंगी प्रकृति वीरान भयावन आगे
मैं जाता हूँ, आओ, हो जिसकी छाती !

प्रेम : एक परिभाषा

प्रेम क्या किसी मृदूष्ण स्पर्श का भिखारी ?
प्रेम वो प्रपात
गीत दिवारात
गा रहा अशान्त
प्रेम आत्मा-विस्मृत पर लक्ष्य-च्युत शिकारी।
प्रेम वह प्रसन्न
खेत में निरन्न
दुर्भिक्षावसन्न
सृजक कृषक खड़ा दीन अन्नाधिकारी।

मन्नू लाल द्विवेदी 'शील'

मैं न हारा

राह हारी मैं न हारा
थक गये पथ धूल के–
उड़ते हुए रज-कण घनेरे।
पर न अब तक मिट सके हैं,
वायु में पदचिह्न मेरे।
जो प्रकृति के जन्म ही से ले चुके गति का सहारा।
राह हारी मैं न हारा

स्वप्न-मग्ना रात्रि सोई,
दिवस संध्या के किनारे।
थक गये वन-विहग, मृगतरु–
थके सूरज-चाँद-तारे।
पर न अब तक थका मेरे लक्ष्य का ध्रुव ध्येय तारा।
राह हारी मैं न हारा।

मैंने वसन्त को

मैंने वसन्त को मधु-रस दे
सिखलाया मधुपों को गाना
सिखलाया कलियों को मैंने
सौरभ बिखराना मुस्काना
मेरे जीवन की दुनिया में
संघर्ष विजय है हार नहीं
उठते भावों अरमानों का

कुछ भी है पारावार नहीं
मेरे मनमौजी जीवन में
है क्रान्ति, शान्ति का ताप नहीं
मेरी इस अडिग तपस्या में
कुछ पुण्य नहीं, कुछ पाप नहीं।

सोहनलाल द्विवेदी

चल पड़े जिधर दो डग

चल पड़े जिधर दो डग मग में,
चल पड़े कोटि पग उसी ओर,
पड़ गयी जिधर भी एक दृष्टि,
पड़ गये कोटि दृग उसी ओर,
जिसके सिर पर निज धरा हाथ,
उसके सिर रक्षक कोटि हाथ,
जिस पर निज मस्तक झुका दिया,
झुक गये उसी पर कोटि माथ,
हे कोटिचरण ! हे कोटिबाहु !
हे कोटिरूप ! हे कोटिनाम !
तुम एकमूर्ति, प्रतिमूर्ति कोटि,
हे कोटिमूर्ति ! तुमको प्रणाम !

युग बढ़ा तुम्हारी हँसी देख
युग हटा तुम्हारी भृकुटि देख,
तुम अचल मेखला बन भू की,
खींचते काल पर अमिट रेख,
तुम बोल उठे, युग बोल उठा,
तुम मौन बने, युग मौन बना,
कुछ कर्म तुम्हें संचित करके,
युग-धर्म जगा, युग-धर्म तना,
युग परिवर्तक ! युग-संस्थापक !
युग संचालक ! हे युगाधार !
युग निर्माता ! युग-मूर्ति ! तुम्हें
युग-युग तक युग का नमस्कार !

पूजा गीत

वंदना के इन स्वरों में, एक स्वर मेरा मिला लो।
वंदिनी माँ को न भूलो,
राग में जब मत्त झूलो;
अर्चना के रत्नकण में, एक कण मेरा मिला लो।

जब हृदय का तार बोले,
शृंखला के बंद खोले;
हों जहाँ बलि शीश अगणित, एक शिर मेरा मिला लो।

केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

गीत यह मैंने लिखा

गीत यह मैंने लिखा
  तुमने बनायी धुन
    मैं अनल के मानसिक
    विक्षोभ में बसता
  चन्द्रवासिनि! तुम अनल को छाँह देती हो
    मैं समय के अथक पथ पर
    अनवरत चलता
  चारुहासिनि! तुम शयन को बाँह देती हो
    मैं इरण
    तुम किरण-प्रतिभा-प्रहर की
    रुनझुन

    नाचती तुम तन्वि
    दोलित वक्ष, वृन्त, सुमन
  गगन-मन निक्वणित ध्वनित समुद्र बादल-दल
    लय उभरती, लय सँवरती
    लय कि भुज-बन्धन
  सोचता मैं, परस से दीपक उठा वह जल
    वर्ति जिसकी,
    सृष्टि की चादर
    रही है बुन

गीत-गौरव समय के

गीत-गौरव समय के अन्वेषणों का
एक मैं हूँ
एक मेरा प्यार
आग जो उठती सितारों की लहर से
लहर जो उठती फिसल कर आग पर से
बिम्ब साक्षी सिन्धु के संप्रेषणों का
एक मैं हूँ
एक मेरा प्यार

व्योम का हर पृष्ठ पंखिल पवन खोले
सूर्य के अवसान में भी सूर्य बोले
शिल्प अलिखित सृष्टि के उन्मेषणों का
एक मैं हूँ
एक मेरा प्यार

रात्रि का आँचल भुजंगों से भरा है
'लौ' कि पृथ्वी, साधना कि ऋतंवरा है
शेष चिह्न अचिह्न बोध-विशेषणों का
एक मैं हूँ
एक मेरा प्यार

रघुवीर सहाय

प्रभाती

आया प्रभात
चन्दा जग से कर चुका बात
गिन-गिन जिनको थी कटी किसी की दीर्घ रात
अनगिन किरणों की भीड़भाड़ से भूल गये
पथ, और खो गये, वे तारे।

अब स्वप्नलोक
के वे अविकल शीतल, अशोक
पल जो अब तक थे फैल-फैल कर रहे रोक
गतिवान समय की तेज़ चाल
अपने जीवन की क्षण-भंगुरता से हारे।

जागे जन-जन,
ज्योतिर्मय हो दिन का क्षण-क्षण
ओ स्वप्नप्रिये, उन्मीलित कर दे आलिंगन।
इस गरम सुबह, तपती दुपहर
में निकल पड़े।
श्रमजीवी, धरती के प्यारे।

याचना

युक्ति के सारे नियन्त्रण तोड़ डाले,
मुक्ति के कारण नियम सब छोड़,
अब तुम्हारे बन्धनों की कामना है।

विरह यामिनि में न पल भर नींद आयी,
क्यों मिलन के प्रात वह नैनों समायी,
एक क्षण ही तो मिलन में जागना है।

यह अभागा प्यार ही यदि है भुलाना,
तो विरह के वह कठिन क्षण भूल जाना,
हाय जिनका भूलना मुझको मना है।

मुक्त हो उच्छ्वास अम्बर मापता है,
तारकों के पास जा कुछ काँपता है,
श्वास के हर कम्प में कुछ याचना है।

नरेश मेहता

पीले फूल कनेर के

पीले फूल कनेर के
पट अंगोरते सिन्दूरी बड़री अँखियन के
फूले फूल दुपेर के।

दौड़ी हिरना
बन-बन अंगना
वोंत वनों की चोर भुर लिया
समय संकेत सुनाये,
नाम बजाये,
साँझ सकारे,
कोयल तोतों के संग हारे
ये रतनारे—
खोजे कूप, बावली, झाऊं
बाट, बटोही, जमुन कछारे
कहाँ रास के मधु पलास हैं ?
बट-शाखों पर सगुन डालते मेरे मिथुन बटेर के

पीले फूल कनेर के।
पाट पट गये,
कगराये तट,
सरसों घेरे खड़ी हिलाती—
पीत चँवरिया सूनी पगवट
सखि ! फागुन की आया मन पे हलद चढ़ गयी
मेंहदी महुए की पछुआ में
नींद सरीखी लान उड़ गई

कागा बोले मोर अटरिया
इस पाहुन बेला में तूने
चौमासा क्यों किया पिया ?
यह टेसू-सी नील गगन में—
हलद् चाँदनी उग आयी री
उग आयी री
अभी न लौटे उस दिन गये सबेर के !
पीले फूल कनेर के।

यह सोनजुही-सी चाँदनी

यह सोनजुही-सी चाँदनी
नव नीलम पंख कुहर खोंसे
मोरपंखिया चाँदनी।

नीले अकास में अमलतास
झर-झर गोरी छवि की कपास
किसलयित गेरुआ वन पलास
किसमिसी मेघ चीखा विलास
मन बरफ़ शिखर पर नैन प्रिया
किन्नर रम्भा चाँदनी।

मधु चन्दन चर्चित वक्ष देश
मुख दूज ढँके मावसी केश
दो हंस बसे कर नैन-वेश
अभिसार रँगी पलकें अशेष
मन ज्वालमुखी पर कामप्रिया
चँवर डुलाती चाँदनी।

गौरा अधरों पर लाल हुई
कल मुझको मिली गुलाल हुई

आलिंगन बँधी रसाल हुई
सूने वन में करताल हुई
मन नारिकेल पर गीत प्रिया
वन-पाँखी-सी चाँदनी।

गिरिजाकुमार माथुर

छाया मत छूना, मन

छाया मत छूना, मन
होगा दुख दूना, मन

जीवन में हैं सुरंग सुधियाँ सुहावनी
छबियों की चित्र-गन्ध शैली मनभावनी
तन सुगन्ध शेष रही बीत गई यामिनी
कुंतल के फूलों की याद बनी चाँदनी

भूली-सी एक छुवन
बनता हर जीवित क्षण
छाया मत छूना, मन
होगा दुख दूना, मन

यश है, न वैभव है, मान है, न सरमाया
जितना ही दौड़ा, तू उतना ही भरमाया
प्रभुता का शरण-बिम्ब केवल मृगतृष्णा है
हर चंदिरा में छिपी एक रात कृष्णा है

जो है यथार्थ कठिन
उसका तू कर पूजन
छाया मत छूना, मन
होगा दुख दूना, मन

द्विविधाहत साहस है दिखता है पंथ नहीं
देह सुखी हो पर मन के दुख का है अन्त नहीं

दुख है न चाँद खिला शरद रात आने पर
क्या हुआ जो खिला फूल रस-वसंत जाने पर

जो न मिला भूल उसे
कर तू भविष्य वरण
छाया मत छूना, मन
होगा दुख दूना, मन

पन्द्रह अगस्त

आज जीत की रात
पहरुए, सावधान रहना
खुले देश के द्वार
अचल दीपक समान रहना

प्रथम चरण है नये स्वर्ग का
है मंज़िल का छोर
इस जन-मंथन से उठ आई
पहली रतन हिलोर
अभी शेष है पूरी होना
जीवन मुक्ता डोर
क्योंकि नहीं मिट पाई दुख की
विगत साँवली कोर

ले युग की पतवार
बने अंबुधि महान रहना
पहरुए, सावधान रहना

विषम शृंखलाएँ टूटी हैं
खुली समस्त दिशाएँ
आज प्रभंजन बनकर चलतीं

युग-बंदिनी हवाएँ
प्रश्नचिह्न बन खड़ी हो गयीं
ये सिमटी सीमाएँ
आज पुराने सिंहासन की
टूट रही प्रतिमाएँ

उठता है तूफ़ान, इन्दु तुम
दीप्तिमान रहना
पहरुए, सावधान रहना

ऊँची हुई मशाल हमारी
आगे कठिन डगर है
शत्रु हट गया, लेकिन उसकी
छायाओं का डर है
शोषण से मृत है समाज
कमज़ोर हमारा घर है
किन्तु आ रही नई ज़िन्दगी
यह विश्वास अमर है

जनगंगा में ज्वार,
लहर तुम प्रवहमान रहना
पहरुए, सावधान रहना!

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

जब-जब सिर उठाया

जब-जब सिर उठाया
अपनी चौखट से टकराया।
मस्तक पर लगी चोट,
मन में उठी कचोट,
अपनी ही भूल पर मैं,
बार-बार पछताया।
जब-जब सिर उठाया
अपनी चौखट से टकराया।
दरवाज़े घट गये या
मैं ही बड़ा हो गया,
दर्द के क्षणों में कुछ
समझ नहीं पाया।
जब-जब सिर उठाया
अपनी चौखट से टकराया।
'शीश झुका आओ' बोला
बाहर का आसमान,
'शीश झुका आओ' बोलीं
भीतर की दीवारें,
दोनों ने ही मुझे
छोटा करना चाहा,
बुरा किया मैंने जो
यह घर बनाया।
जब-जब सिर उठाया
अपनी चौखट से टकराया।

सुहागिन का गीत

यह डूबी-डूबी साँझ
　　　　उदासी का आलम,
मैं बहुत अनमनी
　　　　चले नहीं जाना बालम।

ड्योढ़ी पर पहले दीप जलाने दो मुझको,
तुलसी जी की आरती सजाने दो मुझको,
मन्दिर के घंटे, शंख और घड़ियाल बजे,
पूजा की साँझ सँझौती गाने दो मुझको,
उगने तो दो पहले उत्तर में ध्रुव-तारा
पथ के पीपल पर कर आने दो उजियारा,
पगडण्डी पर जल-फूल-दीप धर आने दो,
चरणामृत जाकर ठाकुरजी का लाने दो,
यह डूबी-डूबी साँझ उदासी का आलम,
मैं बहुत अनमनी, चले नहीं जाना बालम।

यह काली-काली रात
　　　　बेबसी का आलम,
मैं डरी-डरी-सी
　　　　चले नहीं जाना बालम।

बेले की पहले ये कलियाँ खिल जाने दो,
कल का उत्तर पहले इन से मिल जाने दो,
तुम क्या जानो यह किन प्रश्नों की गाँठ पड़ी?
रजनीगन्धा से ज्वार सुरभि को आने दो,
इस नीम ओट से ऊपर उठने दो चन्दा,
घर के आँगन में तनिक रोशनी आने दो,
कर लेने दो तुम मुझको बन्द कपाट ज़रा
कमरे के दीपक को पहले सो जाने दो,
यह काली-काली रात बेबसी का आलम,
मैं डरी-डरी सी, चले नहीं जाना बालम।

यह ठण्डी-ठण्डी रात
उनींदा-सा आलम,
मैं नींद भरी-सी
चले नहीं जाना बालम।

चुप रहो ज़रा सपना पूरा हो जाने दो,
घर की मैना को ज़रा प्रभाती गाने दो,
ख़ामोश धरा, आकाश दिशाएँ सोयी हैं,
तुम क्या जानो क्या सोच रात-भर रोयी हैं?
ये फूल सेज के चरणों पर धर देने दो,
मुझको आँचल में हरसिंगार भर लेने दो,
मिटने दो आँखों के आगे का अँधियारा,
पथ पर पूरा-पूरा प्रकाश हो लेने दो।
यह ठण्डी-ठण्डी रात उनींदा-सा आलम,
मैं नींद-भरी-सी, चले नहीं जाना बालम।

जगदीश गुप्त

सच हम नहीं सच तुम नहीं

सच हम नहीं सच तुम नहीं
सच है सतत संघर्ष ही।
संघर्ष से हट कर जिए तो क्या जिए हम या कि तुम।
जो नत हुआ वह मृत हुआ ज्यों वृन्त से झर कर कुसुम।
जो पंथ भूल रुका नहीं,
जो हार देख झुका नहीं,
जिसने मरण को भी लिया हो जीत, है जीवन वही।
सच हम नहीं सच तुम नहीं।

ऐसा करो जिससे न प्राणों में कहीं जड़ता रहे।
जो है जहाँ चुपचाप अपने आपसे लड़ता रहे।

जो भी परिस्थितियाँ मिलें,
काँटे चुभें, कलियाँ खिलें,
टूटे नहीं इन्सान, बस सन्देश यौवन का यही।
सच हम नहीं सच तुम नहीं।

हमने रचा आओ हमीं अब तोड़ दें इस प्यार को।
यह क्या मिलन, मिलना वही जो मोड़ दे मँझधार को।
जो साथ कूलों के चले,
जो ढाल पाते ही ढले,
यह ज़िन्दगी क्या ज़िन्दगी जो सिर्फ़ पानी-सी बही।
सच हम नहीं सच तुम नहीं

अपने हृदय का सत्य अपने आप हमको खोजना।
अपने नयन का नीर अपने आप हमको पोंछना।
आकाश सुख देगा नहीं,
धरती पसीजी है कहीं

हर एक राही को भटक कर ही दिशा मिलती रही।
सच हम नहीं सच तुम नहीं।

बेकार है मुस्कान से ढकना हृदय की खिन्नता।
आदर्श हो सकती नहीं तन और मन की भिन्नता।
जब तक बँधी है चेतना,
जब तक प्रणय दुख से घना,
तब तक न मानूँगा कभी इस राह को ही मैं सही।
सच हम नहीं सच तुम नहीं।

आँख भर देखा कहाँ

आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी।

अटकी ही रही दीठ
वह हिमगिरि-भाल-पीठ
मेरे ही आँसू के झीने पट ओट छिपी,
देखता रहा बेबस, दी नहीं दिखायी।
आँख भर देखा नहीं, आँख भर आयी।

पंक्ति-बद्ध देवदारु
रोमिल, श्लथ, दीर्घ चारु
चंदन पर श्यामल कस्तूरी की गन्ध सी
जलदों की छाया हिम-शृंगों पर छायी।
आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी।

शिखरों के पार शिखर
बिंध कर दृग गये बिखर
घाटी के पंछी-सी गहरे मन में उतरी
बदरी-केदारमयी मरकत गहराई।
आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी।

धर्मवीर भारती

अर्द्ध-स्वप्न का नृत्य

दीपक की लौ काँपी
परदों में लहर पड़ी।

शीशे में अनजाने तन के आभास हिले
अनदेखे पग में जादू के घुँघरू छमके,
क़ालीनों के ऊनी फूल दबे और खिले
थाप पड़ी पहले कुछ तेज़ी से, फिर थम के।

किसने छेड़ी पिछले
जनमों में सुनी हुई
एक किसी गाने की
पहली रंगीन कड़ी।

अगहन के कोहरे से निर्मित हलके तन के
टोने सहसा जैसे कमरे में घूम गये—
हाथों में ताज़ी कलियों के कँगने खनके
कन्धों पर वेणी के फूलसाँप झूम गये।

दीपक के हिलते
आलोकों को छेड़ गयी
चम्पे की लहराती
बाँहें बड़ी-बड़ी।

इन बहकी घड़ियों की गहरी ख़ामोशी में
जाने कब रात हुई जाने कब बीत गयी,
मन के अँधियारे में उभरे धीमे-धीमे
रंगों के द्वीप नये, वाणी की भूमि नयी।

मणियों के कूल नये
जिन पर हम भूल गये
लक्ष्यहीन यात्राओं की
वह सुनसान घड़ी।

नर्तन यह खींच कहाँ मुझको ले जायेगा
क्या ये सब पिछली तट-रेखाएँ छूटेंगी,
या दीपक गुल होगा उत्सव थम जायेगा
गीतों की सब कड़ियाँ सिसकी में टूटेंगी।

जाने क्या होना है ?
सच है या टोना है ?
या यह भी खोना है?
छलना की एक लड़ी!

दीपक की लौ काँपी
परदों में लहर पड़ी।

धुँधली नदी में

आज मैं भी नहीं अकेला हूँ
शाम है, दर्द है, उदासी है।

एक ख़ामोश साँझ-तारा है
दूर छूटा हुआ किनारा है
इन सबों से बड़ा सहारा है

एक धुँधली अथाह नदिया है
और बहकी हुई दिशा-सी है।

नाव को मुक्त छोड़ देने में
और पतवार तोड़ देने में
एक अज्ञात मोड़ लेने में
क्या अजब-सी, निराश-सी,
सुख-प्रद, एक आधारहीनता-सी है।

प्यार की बात ही नहीं साथी
हर लहर साथ-साथ ले आती
प्यास ऐसी कि बुझ नहीं पाती,
और यह ज़िन्दगी किसी सुन्दर
चित्र में रंगलिखी सुरा-सी है।

आज मैं भी नहीं अकेला हूँ
शाम है, दर्द है, उदासी है।

शम्भुनाथ सिंह

अंतर्यात्रा

टूट गये बन्धन सब टूट गये घेरे,
और कहाँ तक ले जाओगे मन मेरे!

छूट गयीं नीचे, धरती की दीवारें,
आँगन के फूल बने, चाँद और तारे।
घुलमिल कर एक हुए रोशनी-अँधेरे,
और कहाँ तक ले जाओगे मन मेरे!

देख रहा हूँ अथाह, नीली गहराई,
उसमें ही डूब गयी मेरी परछाईं
डूब गये रूप और रंग के बसेरे
और कहाँ तक ले जाओगे मन मेरे !

दीखती नहीं रंगारंग वे बहारें
भूल गयी अश्रु और हास की फुहारें
भूल गये चार चरण और सात फेरे
और कहाँ तक ले जाओगे मन मेरे !

काल की तरंगों में बह गयी दिशाएँ
प्राण कहाँ पर ठहरें और किधर जाएँ!
भारहीन तिरता मैं आज शून्य में रे !
और कहाँ तक ले जाओगे मन मेरे !

समय की शिला पर

समय की शिला पर मधुर चित्र कितने
किसी ने बनाये, किसी ने मिटाये।
किसी ने लिखी आँसुओं से कहानी
किसी ने पढ़ा किन्तु दो बूँद पानी
इसी में गये बीत दिन ज़िन्दगी के
गयी घुल जवानी, गई मिट निशानी।
विकल सिन्धु से साध के मेघ कितने
धरा ने उठाये, गगन ने गिराये।
शलभ ने शिखा को सदा ध्येय माना
किसी को लगा यह मरण का बहाना
शलभ जल न पाया, शलभ मिट न पाया
तिमिर में उसे पर मिला क्या ठिकाना?
प्रणय-पंथ पर प्राण के दीप कितने
मिलन ने जलाये, विरह ने बुझाये।
भटकती हुई राह में वंचना की
थकी श्रांत हो जब लहर चेतना की
तिमिर-आवरण ज्योति का वर बना तब
कि टूटी तभी शृंखला साधना की।
नयन प्राण में रूप के स्वप्न कितने
निशा ने जगाये, उषा ने सुलाये।
सुरभि की अनिल-पंख पर मौन भाषा
उड़ी, वंदना की जगी सुप्त आशा
तुहिन-बिन्दु बनकर बिखर पर गये स्वर
नहीं बुझ सकी अर्चना की पिपासा!
किसी के चरण पर, वरण-फूल कितने
लता ने चढ़ाये, लहर ने बहाये!
जलद पत्र पर इंद्रधनु रंग कितने
किरण ने बनाये पवन ने मिटाये।

बलबीर सिंह 'रंग'

विश्वास बहुत है

जानें क्यों तुमसे मिलने की आशा कम, विश्वास बहुत है।
सहसा भूली याद तुम्हारी उर में आग लगा जाती है
विरहातप भी मधुर-मिलन के सोये मेघ जगा जाती है,
मुझको आग और पानी में रहने का अभ्यास बहुत है
जानें क्यों तुमसे मिलने की आशा कम, विश्वास बहुत है।
धन्य-धन्य मेरी लघुता को, जिसने तुम्हें महान बनाया,
धन्य तुम्हारी स्नेह-कृपणता जिसने मुझे उदार बनाया,
मेरी अन्ध भक्ति को केवल इतना मन्द प्रकाश बहुत है
जानें क्यों तुमसे मिलने की आशा कम, विश्वास बहुत है।
अगणित शलभों के दल के दल एक ज्योति पर जलकर मरते
एक बूँद की अभिलाषा में कोटि-कोटि चातक तप करते,
शशि के पास सुधा थोड़ी है पर चकोर की प्यास बहुत है
जानें क्यों तुमसे मिलने की आशा कम, विश्वास बहुत है।
मैंने आँखें खोल देख ली है नादानी उन्मादों की
मैंने सुनी और समझी है कठिन कहानी अवसादों की
फिर भी जीवन के पृष्ठों में पढ़ने को इतिहास बहुत है
जानें क्यों तुमसे मिलने की आशा कम, विश्वास बहुत है।
ओ ! जीवन के थके पखेरू, बढ़े चलो हिम्मत मत हारो,
पंखों में भविष्य बन्दी है मत अतीत की ओर निहारो,
क्या चिन्ता धरती यदि छूटी उड़ने को आकाश बहुत है
जानें क्यों तुमसे मिलने की आशा कम, विश्वास बहुत है।

न छेड़ो मुझे

न छेड़ो मुझे, मैं सताया गया हूँ,
हँसाते-हँसाते रुलाया गया हूँ।
सताए हुए को सताना बुरा है
तृषित की तृषा को बढ़ाना बुरा है
करूँ बात क्या दान या भीख की मैं
सँजोया नहीं हूँ, लुटाया गया हूँ!

न स्वीकार मुझको नियन्त्रण किसी का
अस्वीकार कब है निमन्त्रण किसी का
मुखर प्यार के मौन वातावरण में
अखरता अनोखा समर्पण किसी का।
प्रकृति के पटल पर नियति तूलिका से
अधूरा बनाकर मिटाया गया हूँ।

क्षितिज पर धरा व्योम से नित्य मिलती,
सदा चाँदनी में चकोरी निकलती।
तिमिर यदि न आह्वान करता प्रभा का
कभी रात भर दीप की लौ न जलती।

करो व्यंग मत व्यर्थ मेरे मिलन पर
मैं आया नहीं हूँ, बुलाया गया हूँ।
न छेड़ो मुझे, मैं सताया गया हूँ।

ठाकुर प्रसाद सिंह

शीशे के नगर में

नगर में आ गये
शीशे के नगर में।
लगे शीशे गली में
हर मोड़ पर
हर घर-डगर में।
देखते हो, देखते ही रहो
कहो सब कुछ कहो
कुछ मत कहो
सहो, केवल सहो, सहते रहो,
आ गये तो चुप रहो, बैठो
न घोलो मधु ज़हर में।
नगर में आ गये
शीशे के नगर में।

छवि कहीं होगी
वहाँ उस पार होगी
बीच में केवल
खुली दीवार होगी
एक क्या
सौ द्वार क्या
हर द्वार होगी
खेल चलता रहे, ऐसा करो कुछ
बैठो न घर में।
नगर में घर में।
शीशे के नगर में।

साँस उच्छ्वासों भरे मन
भरे ही रह गये
प्राण तड़पे, उम्र भर
बस तड़पते रह गये
दर्पणों की पर्त
आलिंगन दबे रह गये
जब भरे बैठे रहें, रह जाएँ
इस ख़ाली प्रहर में
नगर में आ गये
शीशे के नगर में।

पहली बूँद

यह बादल की पहली बूँद कि यह वर्षा का पहला चुम्बन
स्मृतियों के शीतल झोंकों में झुककर काँप उठा मेरा मन।

बरगद की गभीर बाँहों से बादल आ आँगन पर छाये
झाँक रहा जिनसे मटमैला थका चाँद पत्तियाँ हटाये
नीची-ऊँची खपरैलों के पार शान्त वन की गलियों में
रह-रह कर लाचार पपीहा थकन घोल देता है उन्मन
यह वर्षा का पहला चुम्बन।

पिछवारे की बँसवारी में फँसा हवा का हलका अंचल
खिंच-खिंच पड़ते बाँस कि रह-रह बज-बज उठते पत्ते चंचल
चरनी पर बाँधे बैलों की तड़पन बन घण्टियाँ बज रहीं
यह ऊमस से भरी रात यह हाँफ रहा छोटा-सा आँगन
यह वर्षा का पहला चुम्बन।

इसी समय चीरता तमस की लहरें छाया धुँधला कुहरा,
यह वर्षा का प्रथम स्वप्न धँस गया थकन में मन की, गहरा
गहन घनों की भरी भीड़ मन में खुल गये मृदंगों के स्वर
एक रुपहली बूँद छा गयी बन मन पर सतरंगा स्पन्दन
यह वर्षा का पहला चुम्बन।

रमानाथ अवस्थी

रात और शहनाई

सो न सका कल याद तुम्हारी आई सारी रात
और पास ही बजी कहीं शहनाई सारी रात।

मेरे बहुत चाहने पर भी नींद न मुझ तक आयी
ज़हर भरी जादूगरनी-सी मुझको लगी जुन्हाई
मेरा मस्तक सहला कर बोली मुझसे पुरवाई

दूर कहीं दो आँखें भर-भर आईं सारी रात
और पास ही बजी कहीं शहनाई सारी रात।

गगन बीच रुक तनिक चन्द्रमा लगा मुझे समझाने
मनचाहा मन पा जाना है खेल नहीं दीवाने
और उसी क्षण टूटा नभ से एक नखत अनजाने

देख जिसे मेरी तबियत घबराई सारी रात
और पास ही बजी कहीं शहनाई सारी रात।

रात लगी कहने सो जाओ देखो कोई सपना
जग ने देखा है बहुतों का रोना और तड़पना
यहाँ तुम्हारा क्या, कोई भी नहीं किसी का अपना

समझ अकेला मौत मुझे ललचाई सारी रात
और पास ही बजी कहीं शहनाई सारी रात।

मुझे सुलाने की कोशिश में जागे अनगिन तारे
लेकिन बाजी जीत गया मैं वे सबके सब हारे
जाते-जाते चाँद कह गया मुझसे बड़े सकारे

एक कली मुरझाने को मुसकाई सारी रात
और पास ही बजी कहीं शहनाई सारी रात।

भीड़ का अकेलापन

भीड़ में भी रहता हूँ वीरान के सहारे
जैसे कोई मंदिर किसी गाँव के किनारे।

जाना-अनजाना शोर आता बिन बुलाए
जीवन की आग को आवाज़ में छिपाए
दूर-दूर काली रात साँय-साँय करती
मन में न जाने कैसे-कैसे रंग भरती

अनजाना, अनथाहा अंधकार बार-बार
करता है तारों से न जाने क्या इशारे !

चारों ओर बिखरे हैं धूल भरे रास्ते
पता नहीं इनमें है कौन मेरे वास्ते
जाने कहाँ जाने के लिए हूँ यहाँ आया
किसी देवी-देवता ने नहीं यह बताया

मिलने को मिलता है सारा ही ज़माना
एक नहीं मिलता जो प्यार से पुकारे !

तन चाहे कहीं भी हो, मन है सफ़र में
हुआ मैं पराया जैसा अपने ही घर में

सूरज की आग मेरे साथ-साथ चलती
चाँदनी से मिली-जुली रात मुझे छलती

तन की थकन तो उतार ली है पथ ने
जाने कौन मन की थकन को उतारे !

कोई नहीं लगा मुझे अपना-पराया
दिल से मिला जो उसे दिल से लगाया
भेदभाव नहीं किया शूल या सुमन से
पाप-पुण्य जो भी किया, क्रिया पूरे मन से

जैसा भी हूँ, वैसा ही हूँ समय के सामने
चाहे मुझे नाश करे, चाहे यह सँवारे।

रामावतार त्यागी

जब मिलेगी, रोशनी मुझसे मिलेगी

इस सदन में मैं अकेला ही दिया हूँ ;
मत बुझाओ!
जब मिलेगी, रोशनी मुझसे मिलेगी !!

पाँव तो मेरे थकन ने छील डाले
अब विचारों के सहारे चल रहा हूँ,
आँसुओं से जन्म दे-देकर हँसी को
एक मन्दिर के दिये-सा जल रहा हूँ;
मैं जहाँ धर दूँ क़दम, वह राजपथ है ;
मत मिटाओ—
पाँव मेरे, देखकर दुनिया चलेगी!!

बेबसी, मेरे अधर इतने न खोलो
जो कि अपना मोल बतलाता फिरूँ मैं,
इस कदर नफ़रत न बरसाओ नयन से
प्यार को हर गाँव दफ़नाता फिरूँ मैं;
एक अंगारा गरम मैं ही बचा हूँ।
मत बुझाओ!
जब जलेगी, आरती मुझसे जलेगी!!

जी रहे हो जिस कला का नाम लेकर
कुछ पता भी है कि वह कैसे बची है,
सभ्यता की जिस अटारी पर खड़े हो
वह हमीं बदनाम लोगों ने रची है;
मैं बहारों का अकेला वंशधर हूँ,

मत सुखाओ!
मैं खिलूँगा, तब नई बगिया खिलेगी !!

शाम ने सबके मुखों पर रात मल दी
मैं जला हूँ, तो सुबह लाकर बुझूँगा,
ज़िन्दगी सारी गुनाहों में बिताकर
जब मरूँगा, देवता बनकर पुजूँगा;
आँसुओं को देखकर मेरी हँसी तुम—
मत उड़ाओ!
मैं न रोऊँ, तो शिला कैसे गलेगी!!

सबसे अधिक तुम्हीं रोओगे

आने पर मेरे बिजली-सी कौंधी सिर्फ़ तुम्हारे दृग में,
लगता है जाने पर मेरे, सबसे अधिक तुम्हीं रोओगे!

मैं आया तो चारण-जैसा
गाने लगा तुम्हारा आँगन;
हँसता द्वार, चहकती ड्योढ़ी
तुम चुपचाप खड़े किस कारण?
मुझको द्वारे तक पहुँचाने सब तो आए, तुम्हीं न आए,
लगता है एकाकी पथ पर मेरे साथ तुम्हीं होओगे!

मौन तुम्हारा प्रश्न-चिह्न है,
पूछ रहे शायद कैसा हूँ?
कुछ-कुछ चातक से मिलता हूँ—
कुछ-कुछ बादल के जैसा हूँ;
मेरा गीत सुना सब जागे, तुमको जैसे नींद आ गई,
लगता मौन प्रतीक्षा में तुम सारी रात नहीं सोओगे!

तुमने मुझे अदेखा करके
सम्बन्धों की बात खोल दी;
सुख के सूरज की आँखों में—
काली-काली रात घोल दी;
कल को यदि मेरे आँसू की मन्दिर में पड़ गयी ज़रूरत—
लगता है आँचल को अपने सबसे अधिक तुम्हीं धोओगे!

परिचय से पहले ही, बोलो,
उलझे किस ताने-बाने में?
तुम शायद पथ देख रहे थे,
मुझको देर हुई आने में;
जग भर ने आशीष पठाए तुम ने कोई शब्द न भेजा,
लगता तुम मन की बगिया में गीतों का बिरवा बोओगे!

गोपीकृष्ण 'गोपेश'

रूप के बादल

रूप के बादल यहाँ बरसे
कि यह मन हो गया गीला !

चाँद—बदली में छिपा तो बहुत भाया
ज्यों किसी को—
फिर किसी का ख़याल आया
और
पेड़ों की सघन-छाया हुई काली
और कोई साँस काँपी, प्यार के डर से
रूप के बादल यहाँ बरसे...।

सामने का ताल
जैसे खो गया है
दर्द को यह क्या अचानक हो गया है ?
विहग ने आवाज़ दी जैसे किसी को—
कौन गुज़रा
प्राण की सूनी डगर से !
रूप के बादल यहाँ बरसे...।

दूर, ओ तुम !
दूर क्यों हो, पास आओ
और ऐसे में ज़रा धीरज बँधाओ—
घोल दो मेरे स्वरों में कुछ नवल स्वर,
आज क्यों यह कण्ठ,
क्यों यह गीत तरसे !
रूप के बादल यहाँ बरसे...।

आधा चैत हुआ

आधा चैत हुआ
कि जैसे पूरा चैत हुआ—

सूरज तपा, हवा लू बन लेती है बदन दबोच
पंछी आसमान में उड़ते हैं, होता है सोच
जीवन जैसे तपा जेठ-सा
साँसें जैसे आँधी अन्धड़
किसी बाज से उलझ गया है
जैसे प्रान-सुआ।
आधा चैत हुआ।

भूले बिसरे गीतों-से सहसा बादल घिर आये,
आरोहों-अवरोहों में जैसे बिजली बुझ जाए—
गाने और न गाने की
कुछ ऐसी लाचारी है,
किसी सूर ने टूटी बीना का
ज्यों तार छुआ!
आधा चैत हुआ!

सड़कों पर रिक्शे, इक्के, ताँगे ऐसे चलते हैं,
अग्निदेश के चौराहों पर ज्यों सपने जलते हैं—
पास यहाँ से दूर वहाँ तक
कुछ छल है, मृग जल है,
मेरी गति—
कि हिरन मर जाए, माँग न पाये दुआ।

आधा चैत हुआ,
कि जैसे पूरा चैत हुआ।

वीरेन्द्र मिश्र

आस्था का दिशा-संकेत

आँख क्या कह रही है, सुनो—
अश्रु को एक दर्पण न दो
और चाहे मुझे दान दो
एक टूटा हुआ मन न दो

तुम जुड़ो शृंखला की कड़ी
धूप की यह घड़ी पर्व है
हर किरन को चरागाह की
रागिनी पर बड़ा गर्व है
जो कभी है घटित हो चुका
जो अतल में कहीं सो चुका
देवता को सृजन-द्वार पर
स्वप्न का वह विसर्जन न दो

एक गरिमा भरो गीत में
सृष्टि हो जाए महिमामयी
नेह की बाँह पर सिर धरो
आज के ये निमिष निर्णयी
आंचलिक प्यास हो जो, कहो
साथ आओ, उमड़ कर बहो
ज़िन्दगी की नयन-कोर में
डबडबाया समर्पण न दो

जो दिवस सूर्य से दीप्त हो
चन्द्रमा का नहीं वश वहाँ

जिस गगन पर मढ़ी धूप हो
व्यर्थ होती अमावस वहाँ
गीत है जो, सुनो, झूम लो
सिर्फ़ मुखड़ा पढ़ो, चूम लो
तैरने दो समय की नदी
डूबने का निमन्त्रण न दो।

जन सामान्य का युद्ध-विरोधी गीत

कन्धे पर धरे हुए
ख़ूनी यूरेनियम
हँसता है तम
युद्धों के मलबे से
उठते हैं प्रश्न और
गिरते हैं हम।

धूप भरी दोपहरी धूल भरी शाम और कज्जली निशा
सब कुछ ही खुरदुरा, पहनें हम वेदना या जिजीविषा
ऊब और इन्तज़ार
स्वर्ण के विधान में
बन गये नियम।

अभी सिर्फ़ खण्डहर हम, झुग्गी या झोंपड़ी दफ़्तर या जेल
अभी-अभी गुज़री है, माथे की शिकनों से, चिन्ता की रेल
प्रीतिभोज में मिलते
नफ़रत की प्लेटों में
टूटे परचम।

स्वार्थों से स्वार्थ मिले, घृणा से मिली घृणा, रचे गये पुल
सेतुबन्ध शान्ति का, कर न सके निर्मित भी हम जनसंकुल
वह गुलाब की समाधि

इसीलिए चुप बैठी
इसीलिए नम।

रेशमी लबादे में कसे हुए भेड़िये औरों की शाम
लौट रही सभ्यता जंगल की ओर को होकर बदनाम
प्रार्थना-सभाओं में
अभिनय है बहुत अधिक
जीवन है कम।

कब तक यों जीना है, ज़िन्दगी लिफ़ाफ़िया, ख़ाली-ख़ाली
शीत प्रतिष्ठानों में, ढोना है यह सलीब, काली-काली
नर्म चरागाहों पर
दबे-दबे पंजों से
आता है यम।

रामदरश मिश्र

एक नीम-मंजरी

एक नीम-मंजरी
मेरे आँगन झरी
काँप रहे लोहे के द्वार।

आज गगन मेरे घर झुक गया
भटका-सा मेघ यहाँ रुक गया
रग-रग में थरथरी
सन्नाटा आज री
रहा मुझे नाम ले पुकार।

एक बूँद में समुद्र अँट गया
एक निमिष में समय सिमट गया
वायु-वायु बावरी
किसकी है भाँवरी
साँस-साँस बन रही फुहार।

विदाभास

फिर हवा बहने लगी कहने लगीं वनराइयाँ
काँपने फिर फिर लगीं ठहरी हुई परछाइयाँ।

थरथराने से लगे कुछ पंख अपने नीड़ में
एक छाया छू मुझे उड़, खो गयी किस भीड़ में
ताल फिर हिलने लगा, फटने लगी फिर काइयाँ।

एक भटकी नाव धारा पर निरखतीं दीठियाँ
प्रान्तरों को चीरतीं फिर इंजनों की सीटियाँ
अब कहाँ ले जायेंगी यायावरी तनहाइयाँ।

भीत पर अंकित दिनों के नाम फिर हिलने लगे
डायरी के पृष्ठ कोरे फड़फड़ा खुलने लगे
उभरने दृग में लगीं पथ की नमी गहराइयाँ।

शकुन्त माथुर

डर लगता है

मधु से भरे हुए मणि-घट को
ख़ाली करते डर लगता है।

जिसमें सारा सिन्धु समाया
मेरे छोटे जीवन-भर का
दूजे बर्तन में उँडेलते
एक बूँद भी छिटक न जाए
कहीं बीच में टूट न जाए
छूने भर से जी कँपता है।

इस धरणी की प्यासी आँखें
लगीं इसी की ओर एकटक
आयी जग में सुधा कहाँ से
जल का भी तो काल पड़ा है।

प्राण बिना मिट्टी-सा यह तन
भार उठाऊँ इसका कैसे
छोड़ नहीं पाती फिर भी तो
ज़रा उठाते जी हिलता है।

तन गरमाया दुख लपटों से
धीरे-धीरे जला जा रहा
अभी बहुत बाक़ी जलने को
घट में मेरी पड़ी दरारें
साहस आज दूर भगता है।
मधु से भरे हुए मणि-घट को
ख़ाली करते डर लगता है।

पानी बहुत बरसा

अबकी पानी बहुत बरसा
टूट गये तन बाँध
मन तो बहुत सरसा

बहती रही रस धार
दूर हुई सारी थकान
मन ने फिर से
थाम ली लगाम

पानी बहुत बरसा

ये बाढ़ से खण्डहर हुए घर
अपने पर हँसते
यह बसे-बसे घर
उजड़े से दिखते
मेरा मन डरपा
पानी बहुत बरसा

गिरधर गोपाल

शरद की हवा

शरद की हवा यह रंग लाती है,
द्वार-द्वार, कुंज-कुंज गाती है।

फूलों की गन्ध अन्ध घाटी में
बहक-बहक उठता अल्हड़ हिया
हर लता हरेक गुल्म के पीछे
झलक-झलक उठता बिछुड़ा पिया

भोर हर बटोही के सीने पर
नागिन-सी लोट-लोट जाती है।

रह-रह टेरा करती वनखण्डी
दिन-भर धरती सिंगार करती है
घण्टों हंसिनियों के संग धूप
झीलों में जल-बिहार करती है

दूर किसी टीले पर दिवा स्वप्न
अधलेटी दोपहर सजाती है।

चाँदनी दिवानी-सी फिरती है
लपटों से सींच-सींच देती है
हाथ थाम लेती चौराहों के
बाँहों में भींच-भींच लेती है

शिरा-शिरा तड़क-तड़क उठती है
जाने किस लिए गुदगुदाती है।

हेमन्ती भोर

हेमन्ती भोर एक जादू की पुड़िया है।

सागर के फेन से बना हुआ बदन इस का,
जंगल की चकित-भ्रमित हरिणी का मन इस का
यह तो एक सोती-जागती हुई गुड़िया है।

कोहरे की झील बीच नाव-सा नगर डोले,
दरपन-सा घर डोले काँच की डगर डोले,
धूल है कि छोड़ गयी उर्वशी चुनरिया है।

ताल औ' तलैया हैं जल रहीं अँगीठी-सी
नदी है कि ठहर गयी एक नज़र मीठी-सी
घाट-घाट साज रही रूप की नज़रिया है।
जादू की पुड़िया है—
हेमन्ती भोर एक जादू की पुड़िया है।

केदारनाथ सिंह

दुपहरिया

झरने लगे नीम के पत्ते, बढ़ने लगी उदासी मन की,
उड़ने लगी बुझे खेतों से
झुर-झुर सरसों की रंगीनी,
धूसर धूप हुई, मन पर ज्यों–
सुधियों की चादर अनबीनी,
दिन के इस सुनसान पहर में रुक-सी गयी प्रगति जीवन की।
साँस रोक कर खड़े हो गये
लुटे-लुटे-से शीशम उन्मन,
चिलबिल की नंगी बाँहों में
भरने लगा एक खोयापन,
बड़ी हो गयी कटु कानों को 'चुर-मुर' ध्वनि बाँसों के बन की।
थक कर ठहर गयी दुपहरिया,
रुक कर सहम गयी चौवाई,
आँखों के इस वीराने में–
और चमकने लगी रुखाई,
प्रान, आ गये दर्दीले दिन, बीत गयीं रातें ठिठुरन की।

फागुन का गीत

गीतों से भरे दिन फागुन के ये गाये जाने को जी करता!
ये बाँधे नहीं बँधते, बाँहें–
रह जातीं खुली की खुली,
ये तोले नहीं तुलते, इस पर
ये आँखें तुली की तुली,
ये कोयल के बोल उड़ा करते, इन्हें थामे हिया रहता!

अनगाये भी ये इतने मीठे
इन्हें गायें तो क्या गायें,
ये आते , ठहरते, चले जाते
इन्हें पायें तो क्या पायें
ये टेसू में आग लगा जाते, इन्हें छूने में डर लगता!
ये तन से परे ही परे रहते,
ये मन में नहीं अँटते,
मन इन से अलग जब हो जाता,
ये काटे नहीं कटते,
ये आँखों के पाहुन बड़े छलिया, इन्हें देखे न मन भरता!

कैलाश वाजपेयी

भटका हुआ अकेलापन

यह अधनंगी शाम और
यह भटका हुआ
अकेलापन
मैंने फिर घबराकर अपना शीशा तोड़ दिया।

राजमार्ग-कोलाहल-पहिये
काँटेदार रंग गहरे
यन्त्र सभ्यता चूस-चूसकर
फेंके गये अस्त चेहरे

झाग उगलती खुली खिड़कियाँ
सड़े गीत सँकरे जीने
किसी एक कमरे में ख़ुद को
बन्द कर लिया फिर मैंने

यह अधनंगी शाम और
यह चुभता हुआ
अकेलापन
मैंने फिर घबराकर अपना शीशा तोड़ दिया।

झरती भाँप, खाँसता बिस्तर, चिथड़ा साँसें
उबकाई
धक्के देकर मुझे ज़िन्दगी आख़िर कहा
गिरा आयी
टेढ़ी दीवारों पर चलते

मुरदा सपनों के साये
जैसे कोई हत्यागृह में
रह-रह कर लोरी गाये
　　　　यह अधनंगी शाम और
　　　　यह टूटा हुआ
　　　　अकेलापन
　　　　मैंने फिर उकताकर कोई पन्ना मोड़ दिया।

आयी याद—खौलते जल में जैसे
बच्चा छूट गिरे।
जैसे
जलते हुए मरुस्थल में तितली का पंख झरे।
चिटख गया आकाश
देह टुकड़े-टुकड़े हो बिखर गयी
क्षण भर में सौ बार घूम कर धरती जैसे
ठहर गयी
　　　　यह अधनंगी शाम और
　　　　यह हारा हुआ
　　　　अकेलापन
　　　　मैंने फिर मणि देकर पाला विषधर छोड़ दिया।

तीन साँचे : एक तथ्य

जल कहीं था नहीं
रेतीले थाल में

　　किरण वहाँ टूटी थी
स्वर्ण कहीं था नहीं
ऊँचे हिम-शिखर पर

साँझ आ रूठी थी
रंग कहीं था नहीं
हो कर फुहार से
चिनगारी छूटी थी

मृगजल
स्वर्णशिखर
इन्द्रधनु

साक्षी हैं

तम नहीं—आलोक
एक दिन आँखों को
धोखा दे जाता है।

रवीन्द्र भ्रमर

सुरपाँखी

प्राणों के पिंजरे में पाला, साँस-साँस में गाया।
बड़े जतन से वह सुरपाँखी मेरे बस में आया।।

साँझ-सकारे मन-बंसी पर
मैंने उसको टेरा,
रसना की रेशमी धार पर
दिन-दुपहरिया फेरा,
अक्षर-मंत्र, शब्द के टोने
स्वर के बान चलाए
धीरे-धीरे उस निर्मम से
कुछ अपनापा पाया।

बड़े जतन से वह सुरपाँखी मेरे बस में आया।।

जाने किस अनुराग पगीं
उसकी रतनारी आँखें,
किस पीड़ा के नील रंग में
रँगी हुई सब पाँखें,
उसके गहरे प्रेमराग को
बूझ न पाया अब तक,
अतुल स्नेह से उसके पंखों
को हर क्षण सहलाया।

बड़े जतन से वह सुरपाँखी मेरे बस में आया।।

उसके रोम-रोम में महके
बन-फूलों की प्रीत,
उसकी हर थिरकन में

गूँजे घाटी का संगीत,
उसकी बोली में गूँगा
आकाश मुखर हो जाए
मैंने भाव-तूलिका से
उसका ही चित्र बनाया।
प्राणों के पिंजरे में पाला
साँस-साँस में गाया—
बड़े जतन से वह सुरपाँखी मेरे बस में आया।।

दे दिया मैंने

आज का यह पहला दिन
तुम्हें दे दिया मैंने

आज दिन भर तुम्हारे ही ख़यालों में लगा मेला,
मन किसी मासूम बच्चे-सा फिरा भटका अकेला,
आज भी तुम पर
भरोसा किया मैंने

आज मेरी पोथियों में शब्द बनकर तुम्हीं दीखे,
चेतना में उग रहे हैं अर्थ कितने मधुर-तीखे,
जिया मैंने।

आज सारे दिन बिना मौसम घनी बदली रही है,
सहन आँगन में उमस की, प्यास की धारा बही है,
सुबह उठकर नाम जो
ले लिया मैंने

चिरंजीत

कामना के कूल

ले गयी पतझड़ उड़ाकर मृदुल फूल दुकूल को।

फूल में ज्वाला भरी है
दहकती हाला भरी है
जलें चाहे होंठ, छू लूँ कामना के कूल को !
ले गयी पतझड़ उड़ाकर मृदुल फूल दुकूल को।

फूल यह मुरझा रहा है
रूप-रंग-रस जा रहा है
बास को बन्दी बना लूँ, चूमकर इस फूल को।
ले गई पतझड़ उड़ाकर, मृदुल फूल दुकूल को।

प्यास का अभिशाप ऐसा
प्रिय बना चिर पाप ऐसा
पंखुड़ियाँ जब झड़ गयीं तो चूमता हूँ शूल को।
ले गयी पतझड़ उड़ाकर, मृदुल फूल दुकूल को।

आँचल की ओट छिपा

रेशम अँधियारा अलकों का फैला दो, कोई देख न ले।

हम अँधकार के साथी हैं, उजियाले में है पाप वहाँ,
इन जगमग चाँदसितारों को समझा दो, कोई देख न ले।
तनमन पर जग का पहरा है, फिर मिलन न शायद हो पाये
चिर प्यास बुझा कर आज अभी बौरा दो, कोई देख न ले।

बटमारों की बस्ती जीवन, लुटपिट कर भी अपराधी मैं,
आँचल की ओट छिपा मुझको दुलरा दो, कोई देख न ले।

जीवन के रण में जूझजूझ घायल अस्तित्व हुआ मेरा,
इन घावों पर चुंबन कुमकुम बिखरा दो, कोई देख न ले।

इतनी हारों के बाद आज भ्रम विश्वविजय का पाल सकूँ,
भुजमाल समर्पण सुमनों की पहना दो, कोई देख न ले।

रेशम अँधियारा अलकों का फैला दो, कोई देख न ले।

उदयभानु 'हंस'

हर दिशा है मुँह फुलाए

हर दिशा है मुँह फुलाए
वायु व्याकुल फुसफुसाए,
स्तब्ध है आकाश, घिर आया कुहासा।

आज मानस पर जमी संत्रास की काई
भोर में भी ले रही है रात अँगड़ाई
सकल जीवन-मूल्य बदले,
हो गये सब हंस बगुले,
खो गया विश्वास, जल में ज्यों बताशा।

तस्करों की हाट में प्रतिमा बिकाऊ है
गद्य जैसी आधुनिक कविता उबाऊ है
कब हटेंगे ये मुखौटे?
काव्य में कब छन्द लौटे?
शब्दजाल मरीचिका में हरिण प्यासा।

वीर सूली पर स्वयं चढ़कर सुखी होते
सागरों में भी छुपे ज्वालामुखी होते
भीष्म की वह शूल-शैया,
भावना का खेल भैया,
अश्रु या उल्लास में अन्तर ज़रा-सा ।

मन रमे जब कामिनी की श्याम अलकों में
राग अनहद का सुनो तुम बन्द पलकों में
कृष्ण ने गीता सुनाई,
रास राधा संग रचाई,
भोग में संन्यास, जीवन का खुलासा।

भेड़ियों के ढंग

देखिए, कैसे बदलती
आज दुनिया रंग।
आदमी की शक्ल-सूरत,
आचरण में भेड़ियों के ढंग।
द्रौपदी फिर लुट रही है,
दिन दहाड़े,
मौन पाण्डव
देखते हैं आँख फाड़े।
हो गया है सत्य अन्धा,
न्याय बहरा और धर्म अपंग।
नींव पर ही तो
शिखर का रथ चलेगा।
जड़ नहीं तो
तरु भला कैसे फलेगा?
देखना, आकाश में
कब तक उड़ेगी डोर-हीन पतंग?
डगमगाती नाव में
पानी भरा है
सिरफिरा तूफ़ान भी
ज़िद पर अड़ा है।
और मद्यप नाविकों में
छिड़ गयी अधिकार की है जंग।
शब्द की गंगा
दुहाई दे रही है,
युग-दशा भी
पुनः करवट ले रही है।
स्वाभिमानी लेखनी का शील
कोई कर न पाए भंग।।

श्रीपाल सिंह 'क्षेम'

रात-भर चाँदनी गीत गाती रही

रात-भर चाँदनी गीत गाती रही,
बाँह पर चाँद हँसता रहा रात-भर !

कुन्द-घनसार-घन मंजु मालोक-तन,
एक नवनीत-मन, खिल रहा विधु-वदन;
एक मनु के लिए कान्त कामायनी—
जो प्रलय पर छिपी बन सृजन की किरण
रात-भर एक कादम्ब बरसा किया,
ज्योति का मद बरसता रहा रात-भर !

इस लहर से मगर पास आयी तनिक,
उस लहर से कली दूर कतरा गयी;
लाज की ओस में एक पल डूबती,
हास की वीचि पर शीघ्र उतरा गयी;
रात-भर रातरानी मँहकती रही,
एक सपना गमकता रहा रात-भर !

साध की उर्मि ने एक जादू किया,
चल पड़ी मुग्ध तारुण्य की ले तरी;
एक मनु-जात की साँस से खेलने—
भूमि पर आ गयी स्वर्ग की अप्सरी;
रात-भर काल रुक द्वार तकता रहा,
व्योम का उर तरसता रहा रात-भर !

धूम में मुँह छिपाये रही दीपिका,
रूप फिर-फिर कुमुदिनी सजाती रही;
रात-भर इन्दु का मुख मुरझता रहा,

और आकाश-गंगा लजाती रही;
रात-भर एक माथा दमकता रहा,
एक तारा चमकता रहा रात-भर !

प्राण छूती रहीं चितवनें पूनमी,
भुज हमारे लहरते रहे सागरी;
रात-भर प्यास के कण्ठ डूबे रहे,
रस पिलाती रही रूप की गागरी;
रात-भर श्रोत्र पीयूष पीते रहे,
सरगमी स्वर लहरता रहा रात-भर !

गुदगुदाती रही पवन की उँगलियाँ,
रात भर चन्द्रिमा खिलखिलाती रही;
डगमगाये अधर के शलभ रात-भर,
रात-भर दीप-लौ झिलमिलाती रही;
रात-भर प्राण निरखा किये बन नयन,
नींद का मन भटकता रहा रात-भर !

एक तन, एक मन, एक थे श्वास-स्वपन,
एक लय, फिर वहाँ पर विषम कौन हो ?
भूमि कँपती रही, द्वार झूमा किए,
स्वप्न-डूबी नियति सुन रही मौन हो !
रात-भर रात की बीन बजती रही,
एक संगीत बहता रहा रात-भर !

एक पल का गीत

एक पल ही जियो, फूल बनकर जियो,
शूल बनकर ठहरना नहीं ज़िन्दगी।

अर्चना की सँजोये हुए अंजली,
तुम किसी देवता, से मिलो तो सही;
ज़िन्दगी की यहाँ अनगिनत डालियाँ

तुम किसी पर सुमन बन खिलो तो सही;
एक पल ही जियो तुम सुरभि बन जियो,
धूल बनकर उमड़ना नहीं ज़िन्दगी।

तुम भरी वीथियों के अधूरे सपन
कुमकुमी बाँसुरी पर बजाते चलो,
रात रोये हुए फूल की आँख में
ज्योति की नव किरण तुम सजाते चलो;
एक पल ही जियो, प्रात बनकर जियो,
रात बनकर उतरना नहीं ज़िन्दगी।

चेतना के किसी भी क्षितिज से उठो,
याचना के नयन-कोर परसा करो;
जिस लहर पर उड़ो, जिस डगर पर बहो,
कामना के सुधा-विन्दु बरसा करो,
एक पल ही जियो, तुम जलद बन जियो,
वज्र बनकर घहरना नहीं ज़िन्दगी।

वेदना की लहर में डुबाये न जो,
धार में डूबते को किनारा बने
शोक जब श्लोक की पूनमी छाँव में
पंथ–हारे हुए को सहारा बने;
एक पल ही जियो, गीत बनकर जियो
अश्रु बनकर बिखरना नहीं जिन्दगी।

काल के हाथ पर, भाव की भारती बन,
सदा स्नेह से लौ लगाते चलो;
देह को ज्योति-मन्दिर बनाते चलो,
श्वास की हर लहर जगमगाते चलो;
एक पल ही जियो, दीप बनकर जियो,
धूम बनकर घुमड़ना नहीं ज़िन्दगी।

रूपनारायण त्रिपाठी

आँचल न रहा

यह विरस हवा यह सूनापन इस बस्ती में,
लगता है अब वह गीतों का बादल न रहा।

लगता जैसे संन्यास ले लिया मौसम ने
यह डगर गाँव की ठगी-ठगी-सी लगती है,
खोया-खोया हर पात उदास-उदास फूल
हर कली रात भर जगी-जगी-सी लगती है।
सूना आँगन नीरसता के डेरे-सा घर,
शायद अब वह सुहाग का गंगाजल न रहा।

संगीत गूँजता था जिसकी हर आहट में
सपने महका करते रंगीन रवानी में,
हलका नीला घूँघट गोरा-गोरा मुखड़ा
जैसे पूनम का चाँद झील के पानी में।
वह मेंहदी और महावर शायद हुई विदा,
लगता है वह कुमकुम न रहा काजल न रहा।

वह कहीं दूर आसरा तोड़ कर चली गई
टहनी-टहनी का मन मरोड़ कर चली गयी,
इसलिए लग रही है सूनी-सूनी बगिया
वह कोयल शायद देश छोड़ कर चली गयी।

यह लाचारी यह दर्द कहाँ ले जाऊँ मैं,
ऐसे में जो अपनाता वह आँचल न रहा।

मैं गाते-गाते हार गया

मैं जीवन में अपने पहरे भर जाग चुका,
अब आये वह जिसके जगने की बारी हो।

जाने कैसी बयार थी वह किस मधुवन की
जो मुझमें समा गयी तो मन गूँज़ने लगा
मैं अधरों पर लेकर अन्तर को लघु तरंग
यारों की ख़ातिर सारी-सारी रैन जगा
मैं गाते-गाते हार गया अब आये वह,
जो मेरी वंशी का उत्तराधिकारी हो।

अब तो मन की जयजयवंती भी शिथिल हुई
प्राणों की लौ थक गई तिमिर हरते-हरते
मेरी मधुमासी कला हुई गैरिक वसना
ढल गयी आयु रस की सेवा करते-करते
मेरा दायित्व सँभाल सकेगा वही जिसे,
आबरू लेखनी की प्राणों से प्यारी हो।

जो हरता रहा पराया दुःख जीवन भर, मैं
वह कविता का रमता जोगी बहता पानी
मेरी शैली का मर्म वही समझेगा जो
दे सकता हो असहाय आँसुओं को वाणी
आये वह शोणित जला-जलाकर जीवन भर,
जिसने मानवता की आरती उतारी हो।

राजनारायण बिसारिया

नदी के पार से

नदी के पार से मुझको बुलाओ मत !
हमारे बीच में विस्तार है जल का
कि तुम गहराइयों को भूल जाओ मत!

कि तुम हो एक तट पर, एक पर मैं हूँ
बहुत हैरान दूरी देखकर मैं हूँ,
निगाहें हैं तुम्हारी पास तक आतीं
कि बाँहें हैं स्वयं मेरी फड़क जातीं!
गगन में ऊँघती तारों भरी महफ़िल
न रुकती है, नदी की धार है चंचल,
न आहों से मुझे तुम पास ला सकतीं
न बाहों में नदी को चीरने का बल !

कि रेशम-सी मिलन की डोर टूटी है
निगाहों में मुझे अब तुम झुलाओ मत।
नदी के पार से मुझको बुलाओ मत!!

नदी है यह समय की जो मचलती है
चिरन्तन है नदी, धारा बदलती है
नदी है तो किनारे भी अलग होंगे
मिलेंगे भी अगर हम-तुम विलग होंगे,
मनुज निज में सदा से ही इकाई है
मिलन की बात झूठों ने बनाई है
तटों के बीच में दूरी रहेगी ही
कभी जल ने घटाई है, बढ़ाई है!

मिलन है काँच से कच्चा कि अब इस पर
रतन-से लोचनों को तुम रुलाओ मत!
नदी के पार से मुझको बुलाओ मत !!

मिलन मिथ्या कि मिलनातुर हृदय सच है
हृदय सच है हृदय-तल का प्रणय सच है,
प्रणय के सामने दूरी नहीं कुछ भी
प्रणय कब देखता सुनता कहीं कुछ भी।
चमन में बज रही है फूल की पायल
सुरभि के स्वर पवन को कर रहे चंचल,
किरण-कलियाँ गगन से फेंकता कोई
किसी का हिल रहा लहरों-भरा अंचल!

हृदय की भावना है माप दूरी की
मुझे अपने हृदय से तुम भुलाओ मत!
नदी के पार से मुझको बुलाओ मत!!

प्रणय का लो तुम्हें बदला चुकाता हूँ
सितारों को गवाही में बुलाता हूँ
जगत करता नदी में दीप अर्पित है।
लहर पर लो हृदय-दीपक विसर्जित है।
अगर तुम तक बहा ले जाए जल का क्रम
इसे निज चम्पई कर में उठा लो तुम,
रची मेंहदी न जिसकी देख मैं पाया
उसी कोमल हथेली से छिपा लो तुम!

हवा आए, बुझा जाए, न कोई भय
यही काफ़ी कि आँचल से बुझाओ मत!
नदी के पार से मुझको बुलाओ मत!!

तृप्ति और प्यास

तृप्ति जीवन के लिए अभिशाप है !

ज़िन्दगी तब तक कि जब तक देह है,
देह है तब तक कि जब तक साँस है!
साँस है जब तक हमारी देह में
देह में जीवित तभी तक प्यास है!
तृप्ति से है प्यास मिट सकती नहीं,
प्यास का अस्तित्व अपने आप है!
तृप्ति जीवन के लिए अभिशाप है !

सृष्टि भर के वर्ग में, अपवर्ग में
श्रेष्ठतम बस एक मनु-सन्तान है।
तृप्ति की इच्छा नहीं है इसलिए
पत्थरों में पूजती भगवान है!
आँख से आँसू ढुलकते हैं मगर
ओठ पर रहती हँसी की छाप है!
तृप्ति जीवन के लिए अभिशाप है!

है मनुज का मन गगन से भी गहन
कल्पनाएँ तारकों से भी सघन,
भावनाएँ बादलों-सी तैरतीं,
घूमते हैं कामनाओं के पवन!
है विरह-बरसात यदि होती कभी,
मुस्कराता भी मिलन-सुरचाप है।
तृप्ति जीवन के लिए अभिशाप है।

वह मनुज सच्चा कि जो संसार में
मौत को ललकार कर है जी रहा,
प्यास जिसकी हो रही प्रतिपल प्रबल,
प्यास में जो प्यास को ही पी रहा।

जो लहू को तप्त रखने के लिए,
झेलता रहता जगत का ताप है।
तृप्ति जीवन के लिए अभिशाप है !

तृप्ति तो बस मौत का प्रतिबिम्ब है,
प्यास ही तो प्राण का उपनाम है,
प्राण में से जो हृदय है बोलता,
सत्य के कवि को उसी से काम है।
जो हृदय की प्यास लेकर चल रहा,
कर रहा जग में न कोई पाप है!
तृप्ति जीवन के लिए अभिशाप है !

राजेन्द्र किशोर

चाँदनी में

शब्द छितरा दिए चाँदनी में तुमने,
अर्थवती घड़ियों में तुमने यह क्या किया ?

मेरी उँगलियों में तुमने पकड़ा दिया
अनबोले भावों का गन्ध मुग्ध चुम्बन
पलकों पर तोले मैं बैठा हूँ गुमसुम
पीड़क अनुमानों का सारा अभिव्यंजन
पूछेगा कोई तो कैसे बोलूँगा
ऐसी इस रात को मैंने कैसे जिया ?

साँसों में साधे यह इतनी ख़ामोशी
प्राणों में शब्दों को चुनने की पीड़ा
अनबूझे बूझने को बात विकल मन की
चाँदनी में की तुमने कैसी यह क्रीड़ा?

शब्द छितरा दिए चाँदनी में तुमने
अर्थवती घड़ियों में तुम ने यह क्या किया?

रात न माने सपने

रात न माने सपने
मैंने बहुत उन्हें समझाया

कुछ आकर पलकों पर बैठे

कुछ होंठों पर छाये
कुछ मन में व्याकुल हो उतरे
कुछ तन में लहराये

एक ग़ज़ब का ढीठ
अकल्पित तारों को छू आया।

छोटे-से कमरे में अनगिन—
दीख पड़े वातायन
किन्नरियों के नुपूर झनके
गन्धर्वों के गायन

गोपन क्षण का एक समर्पण
अर्थ विकल हो आया।
रात न माने सपने...

कीर्ति चौधरी

घाव तो अनगिन लगे

घाव तो अनगिन लगे
कुछ भरे, कुछ रिसते रहे,
पर बान चलने की नहीं छूटी!

चाव तो हर क्षण जगे
कुछ कफ़न ओढ़े, किरन से सम्बन्ध जोड़े,
आस जीवन की नहीं टूटी!

भाव तो हर पल उठे
कुछ सिन्धु वाणी में समाये, कुछ किनारे
प्रीति सपनों से नहीं रूठी!

इस तरह हँस-रो चले हम
पर किसी भी ओर से संकेत की
कोई किरन भी तो नहीं फूटी!

फूल झर गये

फूल झर गये।

क्षण-भर की ही तो देरी थी
अभी-अभी तो दृष्टि फेरी थी
इतने में सौरभ के प्राण हर गये।
फूल झर गये

दिन, दो दिन जीने की बात थी
आख़िर तो खानी ही मात थी
फिर भी मुरझाये तो व्यथा हर गये।
फूल झर गये।

तुमको औ' मुझको भी जाना है
सृष्टि का अटल विधान माना है
लौटे कब प्राण गेह बाहर गये।
फूल झर गये।

फूलों-सम आओ, हँस हम भी झरें
रंगों के बीच ही जियें औ' मरें
पुष्प अरे गये, किन्तु खिलकर गये।
फूल झर गये।

अजित कुमार

सूरज डूब चुका है

सूरज डूब चुका है,
मेरा मन दुनिया से ऊब चुका है

सुबह उषा-किरणों ने मुझको यों दुलराया,
जैसे मेरा तन उनके मन को हो भाया,
शाम हुई तो फेरीं सबने अपनी बाँहें,
ख़त्म हुई दिन-भर की मेरी सारी चाहें,
धरती पर फैला अँधियाला,
रंग-बिरंगी आभावाला सूरज डूब चुका है,
मेरा मन दुनिया से ऊब चुका है।
फूलों ने अपनी मुस्कान बिखेरी भू पर
दिया मुझे ख़ुश रहने का सन्देश निरन्तर,
ज़िन्दा रहने की साधें मुझ तक भी आयीं,
शाम हुई, सरसिज की पाँखें क्या मुरझायीं—
मन का सारा मिटा उजाला,
धरती का शृंगार निराला सूरज डूब चुका है,
मेरा मन दुनिया से ऊब चुका है।

सुरभि, फूल, बादल, विहगों के गीत नशीले,
बीते दिन में देखे कितने स्वप्न सजीले,
दिन-भर की ख़ुशियों के साथी चले गये यों,
बने और बिगड़े आँखों में ताश-महल ज्यों,
घिरा रात का जादू काला,
राख बनी किरणों की ज्वाला, सूरज डूब चुका है।
मेरा मन दुनिया से ऊब चुका है।

अब भी नहीं

विह्वल उन नयनों के घिरे हुए मेघ,
अनकौंधी बिजलियाँ,
दृश्य : चुप-चुप झर-झर का!

व्याकुल उन प्राणों का तरंगाकुल सागर,
छटपटाती मछलियाँ,
स्वर : लहरों पर पछाड़ खाती लहर का !

तप्त उस जीवन का विराट हहराता मरु,
दहकती शिलाएँ...
आह ! कैसा है तुम्हारा वक्ष, अब भी नहीं दरका!

दुष्यन्त कुमार

तुझे कैसे भूल जाऊँ

अब उम्र की ढलान उतरते हुए मुझे
आती है तेरी याद, तुझे कैसे भूल जाऊँ।

गहरा गये हैं खूब धुंधलके निगाह में
गो राहरौ नहीं है कहीं, फिर भी राह में--
लगते है चन्द साये उभरते हुए मुझे
आती है तेरी याद, तुझे कैसे भूल जाऊँ।

फैले हुए सवाल-सा, सड़कों का जाल है,
ये शहर हैं उजाड़, या मेरा ख़याल है,
सामाने सफ़र बाँधते-धरते हुए मुझे
आती है तेरी याद, तुझे कैसे भूल जाऊँ।

फिर पर्वतों के पास बिछा झील का पलंग
होकर निढाल, शाम बजाती है जलतरंग,
इन रास्तों से तनहा गुज़रते हुए मुझे
आती है तेरी याद, तुझे कैसे भूल जाऊँ।

उन सिलसिलों की टीस अभी तक है घाव में
थोड़ी-सी आँच और बची है अलाव में,
सजदा किसी पड़ाव में करते हुए मुझे
आती है तेरी याद, तुझे कैसे भूल जाऊँ।

अब तो पथ यही है

ज़िन्दगी ने कर लिया स्वीकार,
अब तो पथ यही है।

अब उफनते ज्वार का आवेग मद्धिम हो चला है,
एक हल्का-सा धुँधलका था कहीं, कम हो चला है,
यह शिला पिघले न पिघले, रास्ता नम हो चला है
क्यों करूँ आकाश का मनुहार,
अब तो पथ यही है।

क्या भरोसा, काँच का घट है, किसी दिन फूट जाये,
एक मामूली कहानी है, अधूरी छूट जाये,
एक समझौता हुआ था रोशनी से, टूट जाये,
आज हर नक्षत्र है अनुदार,
अब तो पथ यही है।

यह लड़ाई, जो कि अपने आपसे मैंने लड़ी है,
यह घुटन, यह यातना, केवल किताबों में पढ़ी है,
यह पहाड़ी पाँव क्या चढ़ते, इरादों ने चढ़ी है,
कल दरीचे ही बनेंगे द्वार,
अब तो पथ यही है।

विद्याधर द्विवेदी 'विज्ञ'

आसमान बड़ी दूर है

धरती पर आग लगी—पंछी मजबूर है
क्योंकि आसमान बड़ी दूर है!
लपटों में नीड़ जला
आग ने धुआँ उगला
पंछी दृग बन्द किए
आकुल मन उड़ निकला
सिन्धु में किरन डूबी—और साँझ हो गयी
आँसू बन बरस रहा पंख का गरूर है
क्योंकि आसमान बड़ी दूर है!

बोझिल तम से अम्बर
शंकित उर का गह्वर
जाने किस देश में
गिरेगा गति का लंगर
काँप रहे प्राण आज पीपल के पात से
कंठ करुण कम्पन के स्वर में भरपूर है
क्यों कि आसमान बड़ी दूर है !

उड़ उड़ जुगनू हारे
कब बन पाये तारे
अपने मन का पंछी
किस बल पर उड़ता रे,
प्रश्न एक पवन के प्रमाद में मुखर हुआ
पंछी को धरती पर जलना मंज़ूर है।

झुर झुर बहता पवन

झुर झुर बहता पवन—पुलक से भरा प्रात लहरा गया
आज माघ में फागुन का दिन आ गया

बीत गई जैसे कि शीत की साधना
जीत गई यह वासन्ती आराधना
पकड़ प्रात की बाँह कि जो कहने लगी—
'आज मुझे देना है बड़ा उलाहना
छोड़ नींद में निर्मोही तू कौन देश में छा गया'
आज माघ में फागुन का दिन आ गया।

धरती और गगन के बीच खुली दूरी
भरा-भरा सौभाग्य उषा का सिन्दूरी
गम-गम गमक उठी सुधियों की केतकी
या कि प्राण-मृग की फूटी है कस्तूरी
जिसे ढूँढ़ता-सा मेरा मन अपने ही भरमा गया
आज माघ में फागुन का दिन आ गया।

दिग्वधुओं ने पेड़ों पर ली अंगड़ाई
चल अंचल से खुली शिशिर की गहराई
डूबा मैं छन भर को डूब गयी वाणी
पर बजती ही रही प्यार की शहनाई
चढ़कर जिसकी लय पर मेरा गीत नया स्वर पा गया
आज माघ में फागुन का दिन आ गया।

परमानन्द श्रीवास्तव

हवाएँ न जाने

हवाएँ,
न जाने कहाँ ले जाएँ।

यह हँसी का छोर उजला
यह चमक नीली
कहाँ ले जाए तुम्हारी
आँख सपनीली

चमकता आकाश-जल हो
चाँद प्यारा हो
फूल-जैसा तन, सुरभि-सा
मन तुम्हारा हो

महकते वन हों नदी जैसी
चमकती चाँदनी हो
स्वप्न-डूबे जंगलों में
गन्ध-डूबी यामिनी हो

एक अनजानी नियति से
बँधी जो सारी दिशाएँ
न जाने
कहाँ...ले...जा...एँ?

हिलती कहीं

हिलती कहीं
नीम की टहनी!
भूल गयीं वे बातें कब की
सब जो तुम को कहनी।

गन्ध वृक्ष से छूटी-छूटी
चलीं हवाएँ कितनी तीखी
मार रही हैं कैसे तानें
कहती हैं—
कैसी—अनकहनी !
हिलती कहीं
नीम की ट-ह-नी!

द्वितीय पर्व

रामकुमार चतुर्वेदी 'चंचल'

उत्तर नहीं मिला

कड़ी धूप झेली दुपहर की, तरुवर नहीं मिला।
मरु में भटक-भटक हारे पर निर्झर नहीं मिला।

क़स्बे, ग्राम, नगर आये थे कितने राहों में,
कोई हमको बाँध न पाया अपनी बाँहों में।
झोंपड़ियाँ दुख में डूबी थीं, घर संघर्ष भरे,
सामंती अभिमान लिए थे महल निगाहों में।
शायद हम भी ठहर राह की थकन भुला लेते,
अपनेपन की गन्ध जहाँ हो—वह घर नहीं मिला।
कड़ी धूप झेली दुपहर की, तरुवर नहीं मिला।

यों अपने भी कितने सारे संगी-साथी थे,
पर उनके दिल बुझे हुए दीपक की बाती थे।
झूठी हँसी, मित्रता झूठी, झूठे वादे थे,
बह जाने वाले सारे रिश्ते बरसाती थे।
नफ़रत तो नफ़रत, लोगों ने प्यार छिपाया था,
हम जिस पर विश्वास लुटाते—वह स्वर नहीं मिला।
कड़ी धूप झेली दुपहर की, तरुवर नहीं मिला।

क्षमता से ज़्यादा अपना संघर्ष महान रहा,
दर्द मिला जिनसे—उनको गीतों का दान रहा।
धन-सम्पत्ति, शक्ति या यश की साधें नहीं रहीं,
यह जीवन तो सिर्फ़ प्यार का अनुसंधान रहा।
मन्दिर-मन्दिर फूल चढ़ाकर पाहन पूज लिए,
सुन्दर से सुन्दर प्रतिमा में ईश्वर नहीं मिला।
कड़ी धूप झेली दुपहर की, तरुवर नहीं मिला।

जीतों का अभिमान, हार का ग़म भी नहीं किया,
मुश्किल में मुखड़ा आँसू से नम भी नहीं किया।
हम मानव ही रहे, दनुजता पास न आने दी,
लेकिन कभी देव बनने का भ्रम भी नहीं किया।

हमने उत्तर दिए उम्र-भर सबके प्रश्नों के,
हमने प्रश्न किया तो हमको उत्तर नहीं मिला।
कड़ी धूप झेली दुपहर की, तरुवर नहीं मिला।

नदी

नदी ! तू भरपूर या सूखी रही है।
मुझे लगता है कि तू मुझमें बही है।।

एक पर्वत था—जहाँ उद्‌गम हुआ था,
एक सागर है—जहाँ संगम बनेगा।
सैकड़ों उत्थान-पतनों की कहानी
काल ही शायद सुनेगा या गुनेगा!
राह पाने को भटकना और बहना—
ज़िन्दगी की भी यही गाथा रही है !

गर्व ही है बाल-मन में ज्वार होना,
गर्व की है बात—पानीदार होना।
भेद करके चक्रव्यूहों को चले जो—
गर्व की है बात—वह रफ्तार होना!
दूसरों की प्यास पल-भर को न झेली,
और अपनी प्यास जीवन-भर सही है।

आचमन से स्नान तक वाली कहानी—
चली, जब तक रही पानी पर जवानी।
फिर शरद-हेमन्त ने गम्भीरता दी,
ग्रीष्म ने दी त्याग की, तप की निशानी!

किया हमने भी कि मौसम ने किया जो,
कही हमने भी कि जो उसने कही है।

पर्व कितने हुए, कितने लगे मेले,
और फिर धारा अकेली, तट अकेले।
खनक चूड़ी की न पायल की झनक है,
घट गए तो रह गए पनघट अकेले!
फूल, काँटे, राख, बालू के घरौंदे,
तीर का वातावरण बिलकुल वही है।

उमाकान्त मालवीय

ज़िन्दगी नेपथ्य में गुज़री

ज़िन्दगी नेपथ्य में गुज़री
मंच पर की भूमिका तो सिर्फ़ अभिनय है।

मूल से कट कर रहे
परिशिष्ट में
एक अंधी व्यवस्था की दृष्टि में।
ज़िन्दगी तो कथ्य में गुज़री
और करनी
प्रश्न से आहत अनिश्चय है।

क्षेपकों के
हाशियों के लिए हम
दफ़न होते
कागज़ी हैं ताजिये हम
ज़िन्दगी तो पथ्य में गुज़री
और मन बीमार का परहेज़ संशय है।

चुभन और दंश

एक चाय की चुस्की, एक कहकहा
अपना तो इतना सामान ही रहा।

चुभन और दंशन पैने यथार्थ के
पग-पग पर घेर रहे प्रेत स्वार्थ के
भीतर ही भीतर मैं बहुत ही दहा

किन्तु कभी भूले से कुछ नहीं कहा
एक चाय की चुस्की, एक कहकहा।

एक अदद गन्ध, एक टेक गीत की
बतरस भीगी संध्या बातचीत की
इन्हीं के भरोसे क्या-क्या नहीं सहा

छू ली है सभी, एक-एक इन्तहा
अपना तो इतना सामान ही रहा।

एक क़सम जीने की, ढेर उलझनें
दोनों ग़र नहीं रहे, बात क्या बने
देखता रहा सब कुछ सामने ढहा

मगर कभी किसी का चरण नहीं गहा
एक चाय की चुस्की, एक कहकहा।

कन्हैयालाल नन्दन

सम्बन्ध : दो मनःस्थितियाँ

(एक)

एक नाम अधरों पर आया
अंग-अंग
चन्दन वन हो गया।

बोल हैं
कि वेद की ऋचाएँ ?
साँसों में
सूरज उग आएँ
आँखों में
ऋतुपति के छन्द
तैरने लगे।
मन
सारा नील गगन हो गया।

गन्ध गुँथी बाँहों का घेरा
जैसे
मधुमास का सवेरा
फूलों की भाषा में
देह बोलने लगी
पूजा का
एक जतन
हो गया।

पानी पर खींचकर लकीरें
काट नहीं सकते
ज़ंजीरें।
आसपास
अजनबी अँधेरों के डेरे हैं
अग्निबिन्दु
और सघन हो गया !

अंग-अंग
चन्दन वन हो गया!

(दो)

कुछ कुछ हवा
और कुछ
मेरा अपना पागलपन
जो तस्वीर बनायी
उसने
तोड़ दिया दर्पन।

जो मैं कभी नहीं था
वह भी
दुनिया ने पढ़ डाला
जिस सूरज को अर्घ्य चढ़ाए
वह भी निकला काला
हाथ लगीं—टूटी तस्वीरें
बिखरे हुए सपन !

तन हो गया
तपोवन जैसा
मन

गंगा की धारा
डूब गये सब काबा-काशी
किसका करूँ सहारा
किस तीरथ
अब तरने जाऊँ ?
किसका करूँ
भजन ?
जो तस्वीर बनायी
उसने
तोड़ दिया दर्पन।

सूरज की पेशी का गीत

आँखों में
रंगीन नज़ारे
सपने-बड़े-बड़े।
भरी धार लगता है
जैसे
बालू बीच खड़े।

बहके हुए समन्दर
मन के ज्वार
निकाल रहे।
दरकी हुई शिलाओं में
खारापन डाल रहे
मूल्य पड़े हैं बिखरे
जैसे
शीशे के टुकड़े !

नज़रों के ओछेपन
जब

इतिहास रचाते हैं
पिटे हुए मोहरे
पन्ना-पन्ना भर जाते हैं।
बैठाए जाते हैं।
सच्चों पर
पहरे
तगड़े।

अन्धकार की पंचायत में
सूरज की पेशी
किरणें
ऐसे करें गवाही
जैसे
परदेसी !
सरे आम
नीलाम रोशनी
ऊँचे भाव चढ़े।

भरी धार लगता है
जैसे
बालू बीच खड़े।

शान्ति सुमन

नदी की देह

दुख रही है अब नदी की देह
बादल लौट आ
छू लिये हैं पांय संझा के
सीपियों ने खोल अपने पंख
होंठ तक पहुँचे हुए अनुबन्ध के
सौंप डाले कई उजले शंख
हो गया है इन्तज़ार विदेह
बादल लौट आ

बह चली हैं बैंजनी नदियाँ
खोलकर कत्थई हवा के पाल
लिखे गेरू से नयन के गीत
छपे कोंपल पर सुरभि के हाल
खेल के पतले हुए हैं रेह
बादल लौट आ

फूलते पीले पलासों में
काँपते हैं ख़ुशबुओं के चाव
रुकी धारों में कई दिन से
हौसले से काग़ज़ों की नाव
उग रहा है मौसमी सन्देह
बादल लौट आ

आग बहुत है

भीतर-भीतर आग बहुत है
बाहर तो सन्नाटा है

सड़कें सिकुड़ गयी हैं भय से
देख ख़ून की छापें
दहशत में डूबे हैं पत्ते
अन्धकार में काँपे
किसने है यह आग लगाई
जंगल किसने काटा है

घर तक पहुँचानेवाले वे
धमकाते राहों में
जाने कब सींगा बज जाए
तीर चुभें बाँहों में
कहने को है तेज़ रोशनी
कालिख को ही बाँटा है

कभी धूप ने, कभी छाँव ने
छीनी है कोमलता
एक करोटन वाला गमला
रहा सदा ही जलता
ख़ुशियों वाले दिन पर लगता
लगा किसी का चाँटा है

मधुर शास्त्री

अलग नाम

दर्द तुम्हारा, मेरी पीड़ा,
नाम अलग है, प्राण एक है।

तुमने अपना दर्द सुनाकर मेरी पीड़ा मोहित कर ली,
भीग गयी करुणा से पीड़ा, पीड़ा केवल मुस्का भर दी,
गा न सकी थी मोहित पीड़ा अपनी बीती रामकहानी,
जब भी गाना चाहा उसने, भर आया आँखों में पानी,

अश्रु तुम्हारा, मेरा आँसू,
नाम अलग तूफ़ान एक है।

अपना दुख ही दुख लगता है यह दुनिया की मजबूरी है,
दुख की नदी किनारे दो हैं दुखिया दुखिया में दूरी है,
कोयल गाती मधुबन हँसता, सूरज रोता, चाँद अगन है,
आने जाने वाले जग में चलने वाले का जीवन है,

नयन तुम्हारे, मेरी आँखें,
नाम अलग, मुस्कान एक है।

सुख की छाया चंचल, तब भी सबमें लालच है छाया का
छाया का लोभी, लोभी है मन के मन्दिर की काया का

काया की लोभी दुनिया में मन का लोभी एक नहीं है
सच भी तब कड़वा लगता है जिसमें वचन विवेक नहीं है,

राग तुम्हारा, सरगम मेरी
नाम अलग है, गान एक है।

जीवन-अनहोनी

जब-जब मैंने कहा—
ज़िन्दगी जीनी है,
बोले घुटन, अभाव,
यही अनहोनी है।

माँग सजाकर अपनी स्वर्णिम किरणों से,
ऊषा ने चाहा था दिन की घाम न हो,
मैंने चाहा था ऐसे ही दिन को भी,
हो रंगीन सुबह ऐसी बस शाम न हो,
जब-जब मैंने कहा—
प्रेम-रस पीना है,
बोले स्वार्थ, दुराव,
यही अनहोनी है।

हरी घास पर सोने वाली बूँदों ने—
चाहा उनकी चमक दिवस भर जी जाए,
मैंने भी चाहा था ऐसे दर्पण को,
जो इस मन का रूप असुन्दर जी जाए,
जब-जब मैंने कहा—
अधर को हँसना है,
बोले मन के घाव,
यही अनहोनी है।

तारों के राजा चन्दा ने चाहा था—
रहे दूधिया रात स्वप्न के आँगन में,
मैंने भी चाहा था दुखियारे जग का—
रहे न कोई मानव बेबस जीवन में,
जब-जब मैंने कहा—
पास ही मंजिल है,
बोले घने घुमाव,
यही अनहोनी है।

उदयप्रताप सिंह

फूल और कली

फूल से बोली कली क्यों व्यस्त मुरझाने में है,
फ़ायदा क्या गन्ध औ' मकरन्द बिखराने में है।
तूने अपनी उम्र क्यों वातावरण में घोल दी,
अपनी मनमोहक पंखुरियों की छटा क्यों खोल दी।

तू स्वयं को बाँटता है जिस घड़ी से तू खिला,
किन्तु इस उपकार के बदले में तुझको क्या मिला।
मुझको देखो मेरी सब ख़ुशबू मुझी में बन्द है,
मेरी सुन्दरता है अक्षय अनछुआ मकरन्द है।

मैं किसी लोलुप भ्रमर के जाल में फँसती नहीं,
मैं किसी को देख कर रोती नहीं हँसती नहीं।
मेरी छवि संचित जलाशय है सहज झरना नहीं,
मुझको जीवित रहना है तेरी तरह मरना नहीं।

मैं पली काँटों में जब थी दुनियाँ तब सोती रही,
मेरी ही क्या ये किसी की भी कभी होती नहीं।
ऐसी दुनियाँ के लिए सौरभ लुटाऊँ किसलिए,
स्वार्थी समुदाय का मेला लगाऊँ किसलिए।

फूल उस नादान की वाचालता पर चुप रहा,
फिर स्वयं को देखकर भोली कली से ये कहा।
ज़िन्दगी सिद्धांत की सीमाओं में बँटती नहीं,
ये वो पूँजी है जो व्यय से बढ़ती है घटती नहीं।

चार दिन की ज़िन्दगी खुद को जिए तो क्या जिए,
बात तो तब है कि जब मर जाएँ और के लिए।
प्यार के व्यापार का क्रम अन्यथा होता नहीं,
वह कभी पाता नहीं है जो कभी खोता नहीं।

आराम की पूछो अगर तो मृत्यु में आराम है,
ज़िन्दगी कठिनाइयों से जूझने का नाम है।
स्वयं की उपयोगिता ही व्यक्ति का सम्मान है,
व्यक्ति की अर्न्तमुखी गति दम्भ मय अज्ञान है।

ये तुम्हारी आत्म केन्द्रित गन्ध भी क्या गन्ध है,
ज़िन्दगी तो दान का और प्राप्ति का अनुबन्ध है।
जितना तुम दोगे समय उतना सँजोएगा तुम्हें,
पूरे उपवन में पवन कन्धों पै ढोएगा तुम्हें।

चाँदनी अपने दुशाले में सुलाएगी तुम्हें,
ओस मुक्ता हार में अपने पिन्हायेगी तुम्हें।
धूप अपनी अँगुलियों से गुदगुदायेगी तुम्हें,
तितलियों की रेशमी सिहरन जगाएगी तुम्हें।

टूटे मन वाले कलेजे से लगायेंगे तुम्हें,
मन्दिरों के देवता सर पर चढ़ायेंगे तुम्हें।
गन्ध उपवन की विरासत है इसे संचित न कर,
बाँटने के सुख से अपने आप को वंचित न कर।

यदि संजोने का मज़ा कुछ है तो बिखराने में है,
ज़िन्दगी की सार्थकता बीज बन जाने में है।
दूसरे दिन मैंने देखा वो कली खिलने लगी,
शक्ल सूरत में बहुत कुछ फूल से मिलने लगी।

जागो पहरेदार चमन के

ऐसे नहीं, जागकर बैठो तुम हो पहरेदार चमन के,
चिन्ता क्या है सोने दो यदि सोते हैं सरदार चमन के।

वैसे भी ये बड़े लोग हैं अक्सर धूप चढ़े जगते हैं,
व्यवहारों से कहीं अधिक तस्वीरों में अच्छे लगते हैं।
इनका है इतिहास गवाही जैसे सोये वैसे जागे,
इनके स्वार्थ सचिव चलते हैं नई सुबह के रथ के आगे।
माना कल तक तुम सोये थे लेकिन ये तो जाग रहे थे,
फिर भी कहाँ चले जाते थे जाने सब उपहार चमन के।
ऐसे नहीं, जागकर बैठो तुम हो पहरेदार चमन के,
चिन्ता क्या है सोने दो यदि सोते हैं सरदार चमन के।

इनके हित औ अहित अलग हैं इन्हें चमन से क्या मतलब है,
राम कृपा से इनके घर में जो कुछ होता है वह सब है।
संघर्षों में नहीं जूझते साथ समय के बहते भर हैं,
वैसे ये हैं नहीं चमन के सिर्फ़ चमन में रहते भर हैं।
इनका धर्म स्वयं अपने आडम्बर से हलका पड़ता है,
शुभचिन्तक बनने को आतुर बैठे हैं गद्दार चमन के।
ऐसे नहीं, जागकर बैठो तुम हो पहरेदार चमन के,
चिन्ता क्या है सोने दो यदि सोते हैं सरदार चमन के।

सूरज को क्या पड़ी भला जो दस्तक देकर तुम्हें पुकारे,
गर्ज पड़े सौ बार तुम्हारी खोलो अपने बन्द किवाड़े।
नई रोशनी गले लगाओ आदर सहित कहीं बैठाओ।
ठिठुरी उदासीनता ओढ़े सोया वातावरण जगाओ,
हो चैतन्य ऊँघती आँखें फिर कुछ बातें करो काम की,
कैसे कौन चुका सकता है कितने कब उपकार चमन के।
ऐसे नहीं, जागकर बैठो तुम हो पहरेदार चमन के,
चिन्ता क्या है सोने दो यदि सोते हैं सरदार चमन के।

धरे हाथ पर हाथ न बैठो कोई नया विकल्प निकालो,
जंग लगे हौसले माँज लो बुझा हुआ पुरुषार्थ जगा लो।
उपवन के पत्ते पत्ते पर लिख दो युग की नई ऋचाएँ,
वे ही माली कहलाएँगे जो हाथों में ज़ख़्म दिखाएँ।
जिनका ख़ुशबूदार पसीना रूमालों को हुआ समर्पित,
उनको क्या अधिकार कि पायें वे मँहगे सत्कार चमन के।
ऐसे नहीं, जागकर बैठो तुम हो पहरेदार चमन के,
चिन्ता क्या है सोने दो यदि सोते हैं सरदार चमन के।

जिनको आदत है सोने की उपवन की अनुकूल हवा में,
उनका अस्थि शेष भी उड़ जाता है बनकर धूल हवा में।
लेकिन जो संघर्षों का सुख सिरहाने रखकर सोते हैं,
युग के अंगड़ाई लेने पर वे ही पैगम्बर होते हैं।
जो अपने को बीज बनाकर मिट्‌टी में मिलना सीखे हैं,
सदियों तक उनके साँचे में ढलते हैं व्यवहार चमन के।
ऐसे नहीं, जागकर बैठो तुम हो पहरेदार चमन के,
चिन्ता क्या है सोने दो यदि सोते हैं सरदार चमन के।

यह आवश्यक नहीं कि कल भी होगी ऐसी बात चमन में,
ऐन बहारों में ठहरी है काँटों की बारात चमन में।
कल की आने वाली कलियाँ पिछले खाते जमा करेंगी,
तब इन काग़ज़ के फूलों की ग़लती कैसे क्षमा करेंगी।
उस पर मेरी क़लम गवाही सिवा सत्य के क़ुछ न कहेगी,
केवल बातों के सिक्कों से चलते थे व्यापार चमन के।
ऐसे नहीं, जागकर बैठो तुम हो पहरेदार चमन के,
चिन्ता क्या है सोने दो यदि सोते हैं सरदार चमन के।

शिशुपाल सिंह 'निर्धन'

कितने दाग़ लगे चादर में

अगर चल सको साथ चलो तुम लेकिन मुझसे यह मत पूछो
कितने चलकर आये हो तुम कितनी मंज़िल शेष रह गई?
हम-तुम एक डगर के राही
आगे-पीछे का अन्तर है,
धरती की अर्थी पर सबको
मिला कफ़न यह नीलाम्बर है।
अगर जल सको साथ जलो तुम लेकिन मुझसे यह मत पूछो,
अभी चिताओं के मेले में कितनी हलचल शेष रह गई?
मुझे ओस की बूँद समझकर
प्यासी किरन रोज आती है,
फूलों की मुस्कान चमन में
फिर भी मुझे रोज लाती है।
तड़प सको तो साथ तड़प लो लेकिन मुझसे यह मत पूछो,
कितनी धरा भिगोई तुमने कितनी मरुथल शेष रह गयी ?
अवनी पर चातक प्यासे हैं
अम्बर में चपला प्यासी है,
किसकी प्यास बुझाये बादल
ये याचक हैं, वह दासी है।
बनो तृप्ति बन सको अगर तुम लेकिन मुझसे यह मत पूछो,
कितनी प्यास बुझा लाए हो कितनी असफल शेष रह गयी?
जीवन एक ग्रन्थ है जिसका
सही एक अनुवाद नहीं है,
तुम्हें बताऊँ कैसे साथी
अर्थ मुझे भी याद नहीं है?

बुझा सको तो साथ बुझाओ लेकिन मुझसे यह मत पूछो,
मरघट के घट की वह ज्वाला कितनी चंचल शेष रह गई ?

घाट-घाट पर घूम रहे हैं
भरते अपनी सभी गगरिया,
बदल-बदल कर ओढ़ रहे हैं
अपनी-अपनी सभी चदरिया।

ओढ़ सको तो साथ ओढ़ लो लेकिन मुझसे यह मत पूछो,
कितने दाग़ लगे चादर में कितनी निर्मल शेष रह गयी?

हँसकर तपते रहो

रात-रात भर जब आशा का दीप मचलता है,
तम से क्या घबराना सूरज रोज़ निकलता है।

कोई बादल कब तक
रवि-रथ को भरमाएगा?
ज्योति-कलश तो निश्चित ही
आँगन में आयेगा।

द्वार बन्द मत करो भोर रसवंती आयेगी,
कभी न सतवंती किरणों का चलन बदलता है।

भले हमें सम्मानजनक
सम्बोधन नहीं मिले,
हम हैं ऐसे सुमन
कहीं गमलों में नहीं खिले।

अपनी वाणी है उद्‌बोधन गीतों का उद्‌गम,
एक गीत से पीड़ाओं का पर्वत गलता है।

ठीक नहीं है यहाँ
वेदना को देना वाणी,
किसी अधर पर नहीं—
कामना, कोई कल्याणी।

चढ़ता है पूजा का जल भी ऐसे चरणों पर
जो तुलसी बनकर अपने आँगन में पलता है।

मत दो तुम आवाज़
भीड़ के कान नहीं होते,
क्योंकि भीड़ में—
सबके सब इन्सान नहीं होते।
मोती पाने के लालच में नीचे मत उतरो,
प्रणपालक तृण तूफ़ानों के सर पर चलता है।
रात कटेगी कहो कहानी
राजा-रानी की,
करो न चिन्ता
जीवन-पथ में, गहरे पानी की।
हँसकर तपते रहो छाँव का अर्थ समझने को,
अश्रु बहाने से न कभी पाषाण पिघलता है।

देवराज दिनेश

मेरे उर में लहराता है...

मेरे चरण प्रगति के पथ पर बढ़ने को आतुर।
भू-नभ दोनों में रमने को आकुल मेरा स्वर।

मेरी असफलताओं पर मत आँसू टपकाओ
इनके पीछे छिपी सफलता देखो, मुसकाओ
ओढ़ निराशा की चूनर आशा मुसकाती है
मेरे मन के मीत! तुम्हें वह दीख न पाती है
इसीलिए शायद तुम कुछ घबराये रहते हो
विपदाओं के आगे झुक जाने को कहते हो
हो तुम मेरे मीत, किन्तु यह ज्ञात नहीं तुमको—
मेरे उर में लहराता है साहस का सागर।
भू-नभ दोनों में रमने को आकुल मेरा स्वर।

माना प्रिय ! मेरे चरणों पर घाव घनेरे हैं
संघर्षों के बादल मुझको रहते घेरे हैं
पर इन चरणों ने ही शूलों के मुख मोड़े हैं
गति ने संघर्षों के बादल पीछे छोड़े हैं
कुछ क्षण चैन मिला, फिर नूतन मेघ घटा छायी
पर मेरे अधरों की आभा छीन नहीं पायी
जो बाधाएँ आज राह पर शूल बिछाती हैं—
वही किसी दिन फूल बिछायेंगी मेरे पथ पर।
मेरे चरण प्रगति के पथ पर बढ़ने को आतुर।

आशा का आलोक सदा अन्तर में रहता है
विपदा के क्षण में जो सम्बल बनकर कहता है :

जीवन में संघर्ष न हो तो जीवन फीका है
संघर्षों से बचना मैंने कभी न सीखा है
है मेरा विश्वास परिश्रम की शीतल छाया
वज्र सरीखी कर देती है मानव की काया
मानव वह है जिसके आगे नियति नटी झुककर—
बदले अपने कर से लिखे हुए कलुषित अक्षर।
मेरे चरण प्रगति के पथ पर बढ़ने को आतुर।

मैं युवक, जीना मुझे....

मैं युवक, अमिताभ यौवन का प्रणेता,
हार की बाज़ी कभी मैंने न खेली।

ज़िन्दगी में पतन औ' उत्थान दोनों
बन गये हैं प्रगति का सामान दोनों
आपदा तो आपदा ही बन रहेगी
रुक, मनुज! बन शृंखला पग की कहेगी
निज चरण जिस ओर मस्ती से बढ़ाए
हार ने भी बन विजय मृदुगीत गाए
जग जिसे कह-कह समस्या रो रहा है—
मैं उसे सुलझा गया कहकर पहेली।
मैं युवक, अमिताभ यौवन का प्रणेता,
हार की बाज़ी कभी मैंने न खेली।

प्रबल झंझावात पथ में मुस्कराए
औ' पथिक के हाथ का बुझ दीप जाए
उस दशा में भूल जाए राह राही
सब कहेंगे—हो गयी उसकी तबाही
मैं कहूँगा यदि चरण बढ़ते रहेंगे
शूल भी बन फूल पंथी से कहेंगे—

"आ गई मादक उषा, दृग खोल, साथी !
सामने तेरे खड़ी मंज़िल नवेली।"
मैं युवक, अमिताभ यौवन का प्रणेता,
हार की बाज़ी कभी मैंने न खेली।

मैं मनुज हूँ, और जीने के लिए हूँ
विश्व का तमतोम पीने के लिए हूँ
यह नशीली यामिनी मृदु कामिनी-सी
चाँद के हित बन नवल उन्मादिनी-सी
भावनामय गीत गाती ही रहेगी
प्यार के मोती लुटाती ही रहेगी
मैं युवक, जीना मुझे बनकर विजेता–
है हठीली दामिनी मेरी सहेली।
मैं युवक, अमिताभ यौवन का प्रणेता–
हार की बाजी कभी मैंने न खेली।

घनश्याम अस्थाना

काल की हथेली पर

काग़ज़ के फूलों में ख़ुशबू क्यों खोजें
भोर के किरन-बिंधे गुलाब बीन लायें।

मृगजल में डूब गयी उन्मेषी तृष्णा
दिग्भ्रम में बिखरी सागर की गहराई,
धूप फिरी दस्तक देती द्वारे-द्वारे
सूरज की नाव नहीं तट को छू पायी,
ये घड़ियाँ अहम्मन्य पुण्यों में मुग्धा
श्रद्धांजलियों की छायाओं में जागीं,
छूट गये पीछे जो थे परचम थामे
भीड़ें उपलब्धि भरे नारे ले भागीं,
ऊर्जा से काटें ये जंग लगी कड़ियाँ
चरणों में यात्राएँ अन्तहीन लायें।

जलती पगडण्डी से चली विजय-यात्रा
राजमार्ग तक के संकेत नहीं माने,
किसके हस्ताक्षर हैं, किसके ये चेहरे
हमने तो चरणचिह्न केवल पहचाने,
पथरीला सन्नाटा, समय मौन योगी
बिखरे हैं शिलालेख—अवलोकन कर लें,
लघु विराम के क्षण हैं, मोड़ कई आगे
सक्षम संकल्पों की धूलि शीश धर लें,
काल की हथेली पर खींच अग्निरेखा
चक्रव्यूह में घायल मुक्ति छीन लायें।

सूर्य निकल आए

कुछ ऐसी युक्ति करो
कुहरे से सूर्य निकल आए।

अपनायी काँटों से क्षत-विक्षत पगडण्डी
पार किए अनगिनती जंगल, मरु, टीले,
माथे पर विजय-लेख हिमगिरि से लिखवाए
चरण नील सागर की लहरों से गीले,
मंजिल पर पहुँचे जब भोर के धुँधलके में
दीखे टूटे गुम्बद, दरकी दीवारें,
अन्वेषी आँखों में छिप गये कहीं सहसा
स्वागत के ध्वज-तोरण पुलकित क़तारें,
अपराजित यात्रा की
ऐसी सकरुण परिणति
जैसे चट्टानों का
धैर्य पिघल जाए।

काग़ज़ की नावों में प्लावन जय करने के
पावन संकल्पों की भीड़ में अकेले,
हम कहाँ-कहाँ भटके अनजानी बस्ती में,
लगे जहाँ वक्तव्यों-नारों के मेले,
चौराहे-चौराहे फूलों से लदे हुए
प्रश्नचिह्न साधू बन समाधान देते,
कटी हुई सड़कों को दीपों का भ्रम देकर
पास की जमा-पूँजी—धूप—छीन लेते,
किससे क्या कहें-सुनें इन उजड़ी घड़ियों में
जिससे यह भरम भरी
छाया ढल जाए।

गोपालदास 'नीरज'

कारवाँ गुज़र गया

स्वप्न झरे फूल से,
मीत चुभे शूल से,
लुट गये सिंगार सभी बाग़ के बबूल से;
और हम खड़े-खड़े बहार देखते रहे।
कारवाँ गुज़र गया, गुबार देखते रहे !

नींद भी खुली न थी कि हाय धूप ढल गई,
पाँव जब तलक उठें कि ज़िन्दगी फिसल गई,
पात-पात झर गये कि शाख़-शाख़ जल गई,
चाह तो निकल सकी न, पर उमर निकल गई,
गीत अश्क बन गए,
छन्द हो दफ़न गए,
साथ के सभी दिये धुआँ-धुआँ पहन गए,
और हम झुके-झुके,
मोड़ पर रुके-रुके,
उम्र के चढ़ाव का उतार देखते रहे।
कारवाँ गुज़र गया, गुबार देखते रहे !

क्या शबाब था कि फूल-फूल प्यार कर उठा,
क्या सुरूप था कि देख आईना सिहर उठा,
इस तरफ़ ज़मीन और आसमाँ उधर उठा
थाम कर जिगर उठा कि जो मिला नज़र उठा,
एक दिन मगर यहाँ
ऐसी कुछ हवा चली,
लुट गयी कली-कली कि घुट गयी गली-गली,

और हम लुटे-लुटे,
वक़्त से पिटे-पिटे,
साँस की शराब का खुमार देखते रहे।
कारवाँ गुज़र गया, गुबार देखते रहे।

हाथ थे मिले कि जुल्फ चाँद की सँवार दूँ,
होंठ थे खुले कि हर बहार को पुकार दूँ,
दर्द था दिया गया कि हर दुखी को प्यार दूँ,
और साँस यूँ कि स्वर्ग भूमि पर उतार दूँ,
हो सका न कुछ मगर,
शाम बन गयी सहर,
वह उठी लहर कि ढह गये क़िले बिखर-बिखर,
और हम डरे-डरे,
नीर नयन में भरे,
ओढ़कर कफ़न, पड़े मज़ार देखते रहे।
कारवाँ गुज़र गया, गुबार देखते रहे!

माँग भर चली कि एक, जब नई-नई किरन,
ढोलकें ढुमुक उठीं, ठुमुक उठे चरन-चरन,
शोर मच गया कि लो चली दुल्हन, चली दुल्हन,
गाँव सब उमड़ पड़ा, बहक उठे नयन-नयन,
पर तभी ज़हर भरी,
गाज एक वह गिरी,
पुँछ गया सिन्दूर, तार-तार हुईं चूनरी,
और हम अजान-से
दूर के मकान से,
पालकी लिए हुए कहार देखते रहे।
कारवाँ गुज़र गया, गुबार देखते रहे।

जीवन नहीं मरा करता है

छिप-छिप अश्रु बहानेवालो!
मोती व्यर्थ लुटानेवालो !
कुछ सपनों के मर जाने से
जीवन नहीं मरा करता है।

सपना क्या है ? नयन-सेज पर
सोया हुआ आँख का पानी
और टूटना है उसका ज्यों
जागे कच्ची नींद जवानी,
गीली उमर बनानेवालो!
डूबे बिना नहानेवालो!
कुछ पानी के बह जाने से
सावन नहीं मरा करता है।

माला बिखर गई तो क्या है
खुद ही हल हो गयी समस्या,
आँसू गर नीलाम हुए तो
समझो पूरी हुई तपस्या,
रूठे दिवस मनानेवालो !
फटी क़मीज़ सिलानेवालो!
कुछ दीपों के बुझ जाने से
आँगन नहीं मरा करता है।

खोता कुछ भी नहीं यहाँ पर
केवल ज़िल्द बदलती पोथी
जैसे रात उतार चाँदनी
पहने सुबह धूप की धोती,
वस्त्र बदलकर आनेवालो!
चाल बदलकर जानेवालो!
चन्द खिलौनों के खोने से
बचपन नहीं मरा करता है।

कितनी बार गगरियाँ फूटीं
शिकन न पर आयी पनघट पर,
कितनी बार किश्तियाँ डूबीं
चहल-पहल वही है तट पर,
तम की उमर बढ़ानेवालो !
लौ की आयु घटानेवालो!
लाख करे पतझर कोशिश
पर उपवन नहीं मरा करता है।

लूट लिया माली ने उपवन
लुटी न लेकिन गन्ध फूल की,
तूफ़ानों तक ने छेड़ा, पर
खिड़की बन्द न हुई धूल की,
नफ़रत गले लगानेवालो !
सब पर धूल उड़ानेवालो!
कुछ मुखड़ों की नाराज़ी से
दर्पन नहीं मरा करता है।

बालस्वरूप राही

पी जा हर अपमान

पी जा हर अपमान और कुछ चारा भी तो नहीं!

तूने स्वाभिमान से जीना चाहा यही ग़लत था
कहाँ पक्ष में तेरे किसी समझ वाले का मत था
केवल तेरे ही अधरों पर कड़वा स्वाद नहीं है
सबके अहंकार टूटे हैं तू अपवाद नहीं है

तेरा असफल हो जाना तो पहले से ही तय था
तूने कोई समझौता स्वीकारा भी तो नहीं!

ग़लत परिस्थिति ग़लत समय में, ग़लत देश में होकर
क्या कर लेगा तू अपने हाथों में कील चुभोकर
तू क्यों टँगे क्रॉस पर तू क्या कोई पैग़म्बर है
क्या तेरे ही पास अबूझे प्रश्नों का उत्तर है ?

कैसे तू रहनुमा बनेगा इन पागल भीड़ों का
तेरे पास लुभाने वाला नारा भी तो नहीं।

यह तो प्रथा पुरातन दुनिया प्रतिभा से डरती है
सत्ता केवल सरल व्यक्ति का ही चुनाव करती है
चाहे लाख बार सिर पटको दर्द नहीं कम होगा
नहीं आज ही, कल भी जीने का यह ही क्रम होगा

माथे से हर शिकन पोंछ दे, आँखों से हर आँसू
पूरी बाज़ी देख अभी तू हारा भी तो नहीं।

पलकें बिछाए तो नहीं बैठीं

कटीले शूल भी दुलरा रहे हैं पाँव को मेरे,
कहीं तुम पंथ पर पलकें बिछाए तो नहीं बैठीं!

हवाओं में न जाने आज क्यों कुछ-कुछ नमी-सी है,
डगर की उष्णता में भी न जाने क्यों कमी-सी है,
गगन पर बदलियाँ लहरा रही हैं श्याम-आँचल-सी
कहीं तुम नयन में सावन छिपाए तो नहीं बैठीं।

अमावस की दुल्हन सोई हुई है अवनि से लगकर,
न जाने तारिकाएँ बाट किसकी जोहती जग कर,
गहन तम है डगर मेरी मगर फिर भी चमकती है,
कहीं तुम द्वार पर दीपक जलाए तो नहीं बैठीं!

हुई कुछ बात ऐसी फूल भी फीके पड़े जाते,
सितारे भी चमक पर आज तो अपनी न इतराते,
बहुत शरमा रहा है बदलियों की ओट में चन्दा
कहीं तुम आँख में काजल लगाए तो नहीं बैठीं!

कटीले शूल भी दुलरा रहे हैं पाँव को मेरे,
कहीं तुम पंथ सिर पलकें बिछाए तो नहीं बैठीं।

राममनोहर त्रिपाठी

सच

ऊपर बाँध बनाकर भीतर
रिसते हुए बहा करते हैं,
धन्य-धन्य जो झूठी बातें
सच की तरह कहा करते हैं।

भीड़-भाड़ में निपट अकेले,
इनका कोई राज न ले ले,
छोटी-छोटी खुशियाँ देकर
पाले रहते बड़े झमेले,

निर्भय होकर अपनी प्रिय
साँसों के साथ रहा करते हैं।

भीतर सुलग रहे अंगारे
फिर भी धुआँ नहीं है प्यारे,
न तो समर्पण न तो उपेक्षा
कैसे निभा रहे बेचारे,

मुस्कानों के भीतर-भीतर
सच का दर्द सहा करते हैं।

निभा रहे तो ज़िम्मेदारी
उसके लिए सभी आभारी,
फेंक दिया शब्दों का पांसा
अर्थों की कैसी लाचारी,

ऊपर बाँध बनाकर भीतर
रिसते हुए बहा करते हैं,
सच की तरह कहा करते हैं।

बेला महक उठा

दो क्षण साथ तुम्हारे रह लेने भर से
युग-युग तक जी लेने का बल मिला मुझे

फिर उजला हो उठा धुंधलकों वाला तम
फिर सुगन्ध लौटी साँसों में बेमौसम
बेला जैसा महक उठा सोया सरगम।

सौगन्धों का गीला आँचल मिला मुझे
युग-युग तक जी लेने का बल मिला मुझे।

अक्सर इन हमदर्द सितारों के आगे
तोड़ नहीं पाता सम्बन्धों के धागे
कितना सच में सोये, सपनों में जागे।

शरमायी आँखों का काजल मिला मुझे
युग-युग तक जी लेने का बल मिला मुझे।

मिलने की आशा है जैसे अपराधिन
क़ैद काटती विश्वासों के दिन गिन-गिन
वापस कभी नहीं आते हैं बीते दिन।

आज बिता आनेवाला कल मिला मुझे
युग-युग तक जी लेने का बल मिला मुझे।

धरती से आकाश सरीखी दूरी है
दूरी से ज़्यादा कोई मजबूरी है
बादल देखें ज्यों बेचैन मयूरी है।

वे बरसे गीतों का बादल मिला मुझे
युग-युग तक जी लेने का बल मिला मुझे।

उपेन्द्र

यह वर्षा का प्रथम दिवस है

यह वर्षा का प्रथम दिवस है,
मेरे मन, उदास मत होना !

देख क्षितिज की ओर मेघ की
सहसा चढ़ती हुई जवानी,
देख विश्व की उत्सुक आँखें,
भूल धूल-धूसरित कहानी,
कब तक खोजेगा सुधियों में
सुख के अर्जन और विसर्जन,
देख धरा का तृषावंत मुख
और गगन का प्यार सलोना !

कल थे पश्चात्ताप प्रणय के
आज उमंगों की बारी है,
कल थी सीमाहीन पिपासा
आज तृप्ति की तैयारी है,
इस सुरम्य आनंदोत्सव में
क्षम्य नहीं क्षण की भी देरी,
शाप आज सारी चिन्ताएँ,
पाप आज है आँख भिगोना !

यह मेघों का मान कि जैसे
दिशा-दिशा चल चरण पखारे,
यह मेघों की शान कि बिजली
पग पग पर आरती उतारे,

तू भी सीख भीख ले इनसे
कुछ गुन या निर्गुन की बातें
और नहीं तो क्या मिलने को
तुझे यहाँ पर चाँदी-सोना ?

जल में उतर केश फैलाए
चली तैरतीं घिरी घटाएँ,
एक-एक छवि पर तुल जाएँ
कालिदास की सौ उपमाएँ,
ऐसे ही अवसर पर अक्सर
दबा दर्द उभरा करता है
लेकिन आज नहीं चलने को
यह छलनामय जादू-टोना !

आज साँझ को फिर मैं रोया

याद तुम्हारी कर चुपके से
आज साँझ को फिर मैं रोया !

क्षण भर में मन दौड़ गया फिर
उन भूली भटकी राहों में,
और अचानक तुम्हें पा लिया
फिर मैंने अपनी बाँहों में,
लहराये से मुक्त केश थे,
थीं मदिरालस तिरती आँखें,
झूल रही थी देह फूल-सी,
सुख की चिर आतुर चाहों में,

होता नहीं कहीं धरती पर
सपनों से ज़्यादा कुछ सुन्दर,

इसीलिए तो हमने उनकी–
ख़ातिर अपना सब कुछ खोया!

दो हृदयों का मिलन देखकर
मानो, सारा जग जलता है,
पर अपने-अपने मन पर ही
बोलो, किसका वश चलता है?
जिस पर रीझे उस पर अपना
जीवन ही अर्पित कर डाले,
यह मानव की एक चिरंतन
एक अभागी दुर्बलता है,

कौन कहाँ जन्मा धरती पर
जिसने नहीं विरह-दुख देखा ?

जिसने क्षण न दिए सुधियों को
जिसने अपना मन न भिगोया?

कितनी हो दृढ़ता धीरज की
फिर भी दृग भर-भर आते हैं,
कितना ही कठोर संयम हो
फिर भी पाँव फिसल जाते हैं,
कब रह पाया दुःख अनगाया?
कब रह पायी मौन प्रतिध्वनि,
भाव उधर अन्तस् में उठते
अक्षर इधर बिखर जाते हैं,

आज तुम्हारा कंठ अलंकृत
अगणित सुधियों की माला से,

उस माला में एक फूल-सा
मैंने अपना प्राण पिरोया।

वह अनुभूति प्रखर होती है
जिसकी फाँस गड़ी रह जाये,
दर्द वही असली होता है
जो प्राणों से निकल न पाये,
वह जो रह-रह कर बहता है
फिर भी भरा-भरा रहता है,
कब जाने ढुलके जल कण-सा
कब जाने तूफ़ान उठाए,

आज लगा होने आलोड़ित
फिर कोई करुणा का सागर,
उस सागर में लघु गागर-सा,
मैंने अपना गीत डुबोया।

बुद्धिसेन शर्मा

सुबह से शाम तक

सुबह से शाम तक हज़ार बार मरना,
बार-बार करना खुद अपने ही वार से बचाव,
घड़ी-घड़ी मरहम है, घड़ी-घड़ी घाव।

बढ़ता उम्मीदों का कारवाँ,
परत-दर-परत जमती गर्द;
झूम रहा सर्पों से आलिंगित गंधराज,
डाल-डाल ख़ुशबू तो पात-पात दर्द;
ठौर-ठौर चमकीले फूल,
पोर-पोर सुलगते अलाव।

कसी हुई मुट्ठियाँ, जुलूस और नारे,
पीले आक्रोशों के दास,
राख के समुन्दर में तैरते सितारे,
चितकबरा सारा आकाश,
नन्हे-से अंकुर के उठे हुए मस्तक पर
हाथी के पाँव के दबाव।

शस्त्रों से सजी हुई बीसवीं सदी,—
अपने ही लोगों की है,
इस घर से उस घर तक रक्त की नदी,—
अपने ही लोगों की है,
अपनी संगीनें हैं, अपने ही सीने,
अपनों का अपनों से अंधा टकराव।

तेज़तर हवाओं के सरफिरे इरादे,
इसका आभास नहीं था,
ऐसे ही होते हैं, मौसम के वादे,
बिलकुल एहसास नहीं था,
आठ पहर आँखों में बहती ही रहती है
चट्टानी नदी और शीशे की नाव।

जिस तट पर

जिस तट पर प्यास बुझाने से अपमान प्यास का होता हो,
उस तट पर प्यास बुझाने से प्यासा मर जाना बेहतर है।
जब आँधी, नाव डुबा देने की
अपनी ज़िद पर अड़ जाये,
हर एक लहर जब नागिन बनकर
डसने को फन फैलाये,
ऐसे में भीख किनारों की माँगना धार से ठीक नहीं,
पागल तूफ़ानों को बढ़कर आवाज़ लगाना बेहर है।
काँटे तो अपनी आदत के
अनुसार, नुकीले होते हैं,
कुछ फूल मगर काँटों से भी
ज़्यादा ज़हरीले होते हैं।
जिसको माली आँखें मींचे मधु के बदले विष से सींचे,
ऐसी डाली पर खिलने से पहले मुरझाना बेहतर है।
जो दिया उजाला दे न सके,
तम के चरणों का दास रहे,
अंधियारी रातों में सोये,
दिन में सूरज के पास रहे,
जो केवल धुआँ उगलता हो, सूरज पर कालिख मलता हो,
ऐसे दीपक का जलने से पहले बुझ जाना बेहतर है।

शलभ श्रीराम सिंह

धरे हथेली गाल पर

धरे हथेली गाल पर
सोच रहा हूँ कल की बातें—गये वर्ष की कुछ तस्वीरें
झूल रहीं दीवाल पर!
धरे हथेली गाल पर... !

हवा खिड़कियों के परदों पर छिटके गन्ध बबूल की।
रोशनदान घुट रहे सारे—कई दिनों से गुलदस्तों पर—
पर्त जमी है धूल की।
बिस्तर पर सिलवटें, सिलवटों पर सिगरेट की छाई
हाथ उठाऊँ, इसके पहले ठमक गयी है—दीठ किसी के—
नाम कढ़े रूमाल पर।
धरे हथेली गाल पर...।

गये क्षणों की पगध्वनियों को झेल रहा है कुहरा
मैं आवाज़ लगाने को हूँ—दिया साँझ का मना कर रहा—
कहता ठहर, न गुहरा !
देख कि कल तक घुटनों के बल चलने वाला चाँद
आज बाँटने स्वप्न रुपहले—क्षितिजों के झुरमुट से उभरा
ठण्डी हँसी उछालकर।
धरे हथेली गाल पर...।

थम-सा गया आज कल मन का दूर-दूर तक जाना।
बहुत भला लगता है अब तो—उकड़ूँ बैठे हरी घास पर—
अपने को दुहराना।
काश कि कोई आकर मुझसे फिर न कभी कुछ कहता
नन्हा तिनका लिए हाथ में—यों ही जीने की तबियत करती है
पूरे साल भर।
धरे हथेली गाल पर...।

आनेवाले ! स्वागत

आनेवाले ! स्वागत !
जानेवाले ! विदा !
अगले चौराहे पर इन्तज़ार...
शुक्रिया !

ख़त लिखना—फागुनी बतास जब खुले !
हाँ, लिखना—दूध में गुलाल जब घुले !
लिखना जी : फूले जब हरसिंगार...
शुक्रिया !

बौर लगे आमों का हाल चाल भी लिखना !
मधु मासे बौने मन की उछाल भी लिखना !
लिखना : जब झुक-झूमे नीम-डार...
शुक्रिया !

लिखना : पोखर-तीरे हंस युग्म का होना।
किरणों सिरहाने रखकर लहरों का सोना।
लिखना : जब जलकुम्भी हो उधार...
शुक्रिया !

पुष्पा राही

धुआँ नहीं मँडराया

पूजा के फूलों को
वापस ले आयी हूँ,
मन्दिर का द्वार आज बन्द था।

धुआँ नहीं मँडराया
चिमनी के घेरे पर,
गगन नहीं धुँधलाया
शहर के सवेरे पर,

अनसोए द्वन्द्वों को
आज सुला आयी हूँ
बाहर कोलाहल भी मंद था।

तितली के पंखों के
गिनती हूँ रंग आज,
झरनों की कलकल के
बहती हूँ संग आज,

कोहरे की कारा से
किरण चुरा लायी हूँ,
फूलों में भरना मकरंद था।

खुशियों के दर्पण को
हाथों में ले लूँगी,
दूर कहीं निर्जन की
गोदी में खेलूँगी,

भीड़ भरे मेले से
ढूँढ़-ढूँढ़ लायी हूँ,
बच्चे-सा भटका आनन्द था।

महकते मधुमास-सा

महकते मधुमास-सा लौट आया फिर प्रणय,
फिर अधर पर छा गया गीत कोई प्यार का।

हैं हज़ारों काम, पर
काम ही सब कुछ नहीं,
ढूँढ़ लेगी प्यास तो
हो भले ही जल कहीं।
मन किसी विश्राम की
कल्पना में रम गया,
डूब गहरे में कहीं
ज्वार जैसे थम गया।

धूप काफ़ी दूर है, पास हैं परछाइयाँ
रंग बिखरा जा रहा फिर किसी त्यौहार का।

शब्द जोड़े फूल-से
ज़िन्दगी के छन्द में,
रच लिए सम्बन्ध फिर
भावना की गंध में।
कुछ कही, कुछ अनकही
बात का करना विकल,
फिर रहा दोहरा हृदय
सरलता के गुण सकल।

व्यर्थ जिसके सामने क़ीमती गहने सभी,
याद आया रूप फिर उस सहज श्रृंगार का।

बाँह में भर लो मुझे
ओ दिशाओ आज तुम,
इन्द्रधनुषी पक्षियो,
दो मुझे आवाज़ तुम।

मुक्त नभ में उड़ रहा
मन नियन्त्रण में नहीं,
पंख उगने पर भला,
खग कभी रुकता कहीं?

कल्पनाओं के नयन में बसा जो रात-दिन
स्वप्न पूरा हो गया फिर उसी संसार का।

भारत भूषण

मेरे मन-मिरगा नहीं मचल

मेरे मन-मिरगा नहीं मचल
हर दिशि केवल मृगजल मृगजल !

प्रतिमाओं का इतिहास यही
उनको कोई भी प्यास नहीं
तू जीवन भर मन्दिर-मन्दिर
बिखराता फिर अपना दृगजल !

खौलते हुए उन्मादों को
अनुप्रास बने अपराधों को
निश्चित है बाँध न पाएगा
झीने-से रेशम का आँचल !

भींगी पलकें भींगा तकिया
भावुकता ने उपहार दिया
सिर माथे चढ़ा इसे भी तू
ये तेरी पूजा का प्रतिफल !

सौ-सौ जनम

सौ-सौ जनम प्रतीक्षा कर लूँ
प्रिय मिलने का वचन भरो तो !

पलकों पलकों शूल बुहारूँ
अँसुअन सींचूँ सौरभ गलियाँ

भँवरों पर पहरा बिठला दूँ
कहीं न जूठी कर दें कलियाँ
फूट पड़े पतझर से लाली
तुम अरुणारे चरन धरो तो !

रात न मेरी दूध नहाई
प्रात न मेरा फूलों वाला
तार-तार होता निर्मोही
काया का रंगीन दुशाला
जीवन सिन्दूरी हो जाए
तुम चितवन की किरन करो तो !

सूरज को अधरों पर धर लूँ
काजल कर आँजूँ अँधियारी
युग-युग के पल छिन गिन-गिनकर
बाट निहारूँ प्राण तुम्हारी
साँसों की ज़ंजीरें तोड़ूँ
तुम प्राणों की अगन हरो तो!

बालकवि बैरागी

अपनी गन्ध नहीं बेचूँगा

चाहे सभी सुमन बिक जायें
चाहे ये उपवन बिक जायें
चाहे सौ फागुन बिक जायें
पर मैं गन्ध नहीं बेचूँगा—अपनी गन्ध नहीं बेचूँगा।

जिस डाली ने गोद खिलाया जिस कोंपल ने दी अरुणाई
लछमन जैसी चौकी देकर जिन काँटों ने जान बचाई
इनको पहला हक़ जाता है चाहे मुझको नोचें तोड़ें
चाहे जिस मालिन से मेरी पाँखुरियों के रिश्ते जोड़ें
ओ मुझ पर मँडरानेवालो
मेरा मोल लगानेवालो
जो मेरा संस्कार बन गयी वो सौगन्ध नहीं बेचूँगा
अपनी गन्ध नहीं बेचूँगा—चाहे सभी सुमन बिक जायें।

मौसम से क्या लेना मुझको ये तो आयेगा जायेगा
दाता होगा तो दे देगा खाता होगा तो खायेगा
कोमल भँवरों के सुर सरगम पतझारों का रोना-धोना
मुझ पर क्या अन्तर लायेगा पिचकारी का जादू-टोना
ओ नीलाम लगानेवालो
पल-पल दाम बढ़ानेवालो
मैंने जो कर लिया स्वयं से वो अनुबन्ध नहीं बेचूँगा
अपनी गन्ध नहीं बेचूँगा—चाहे सभी सुमन बिक जायें।

मुझको मेरा अन्त पता है पँखुरी-पँखुरी झर जाऊँगा
लेकिन पहले पवन-परी संग एक-एक के घर जाऊँगा

भूल-चूक की माफ़ी लेगी सबसे मेरी गन्ध कुमारी
उस दिन ये मंडी समझेगी किसको कहते हैं खुद्दारी
बिकने से बेहतर मर जाऊँ अपनी माटी में झर जाऊँ
मन ने तन पर लगा दिया जो वो प्रतिबन्ध नहीं बेचूँगा
अपनी गन्ध नहीं बेचूँगा—चाहे सभी सुमन बिक जायें।

मुझसे ज़्यादा अहं भरी है ये मेरी सौरभ अलबेली
नहीं छूटती इस पगली से नील गगन की खुली हवेली
सूरज जिसका सर सहलाये उसके सर को नीचा कर दूँ ?
ओ प्रबन्ध के विक्रेताओ
महाकाव्य के ओ क्रेताओ
ये व्यापार तुम्हीं को शुभ हो मुक्तक छन्द नहीं बेचूँगा
अपनी गन्ध नहीं बेचूँगा—चाहे सभी सुमन बिक जायें।

झर गये पात

झर गये पात
बिसर गयी टहनी
करुण कथा जग से क्या कहनी ?
झर गये पात...

नव कोंपल के आते-आते
टूट गये सब के सब नाते
राम करे इस नव पल्लव को
पड़े नहीं यह पीड़ा सहनी
झर गये पात बिसर गयी टहनी
करुण कथा जग से क्या कहनी ?

कहीं रंग है कहीं राग है
यहाँ चंग है वहाँ फाग है
और धूसरित पात नाथ को

टुक-टुक देखे शाख़ बिरहनी
झर गये पात बिसर गयी टहनी
करुण कथा जग से क्या कहनी ?

पवन पाश में पड़े पात ये
जनम-मरण में रहे साथ ये
'वृन्दावन' की श्लथ बाँहों में
समा गयी ऋतु की 'मृगनयनी'
झर गये पात बिसर गयी टहनी
करुण कथा जग से क्या कहनी ?

प्रभा ठाकुर

याद आती रही

आँख रह-रह मेरी डबडबाती रही,
हम भुलाते रहे याद आती रही !

प्राण सुलगे, तो जैसे धुआँ छा गया।
नैन भीगे, ज्यों प्यासा कुआँ पा गया।
रोते-रोते कोई बात याद आ गयी,
अश्रु बहते रहे, मुसकुराती रही !

साँझ की डाल पर सुगबुगाती हवा,
फिर मुझे दृष्टि भरकर किसी ने छुआ,
घूम कर देखती हूँ, तो कोई नहीं,
मेरी परछाई मुझको चिढ़ाती रही !

एक तस्वीर है, एक है आइना,
जब भी होता किसी से मेरा सामना
मैं समझ ही न पाती कि मैं कौन हूँ,
शक्ल, यूँ उलझनों को बढ़ाती रही!

यादों के दंश

बाँझ हो गया सारी सुधियों का वंश,
तोड़ दिए सर्पीली यादों के दंश।

नागफनी के पौधे वक्ष में छिपाए,
मन के भीतर कितने गोदने गुदाए,
आहत हैं अब तक ये मानस के हंस।

अन्तर की परतों तक ज़हर गया बोया,
तब जाकर काँटों का विपुल वंश खोया,
कसक रहे हैं फिर भी कुछ टूटे अंश।

बूँद-बूँद आँसू तक यत्न से सहेजा,
पथरीले साँचे में मोम सा कलेजा,
कोमलतम भावों से गढ़ डाला कंस।

स्नेहलता 'स्नेह'

मैं क्षितिज के पार

मैं क्षितिज के पार जाना चाहती हूँ
पर धरा का द्वार मुझको रोकता है !
मैं गगन का छोर पाना चाहती हूँ
पर डगर का प्यार मुझको रोकता है !

जानता है तट न लहरें रुक सकेंगी
किन्तु फिर भी हर लहर को तौलता है
जानता है तरु न ये कलियाँ मिलेंगी
एक क्षण को पर मधुर रस घोलता है
मैं अमर अस्तित्व पाना चाहती हूँ
पर मरण का भार मुझको रोकता है !

स्वप्न पलकों में छिपाए रवि चला था
जो बिखर कर साँझ के तट सो चले हैं
गीत की मनुहार लेकर कवि चला था
जो निलय की गूँज बनकर खो चले हैं
मैं स्वरों के पार आना चाहती हूँ
पर नयन का ज्वार मुझको रोकता है !

प्रेम का प्रतिदान तो पाना सरल है
पर शलभ की राह पर चलना कठिन है
गीत करुणा के सुना देना सरल है
पर व्यथा की बूँद बन ढलना कठिन है
मैं अमर आलोक पाना चाहती हूँ
पर तिमिर-अभिसार मुझको रोकता है !

शून्य के इस पार क्या, उस पार क्या है
खोजने जीवन-तरी फिर जा रही है
धार औ' मझधार को देकर चुनौती
मौन हो तूफ़ान को दुलरा रही है
निशि-दिवस के पार जाना चाहती हूँ
पर मलय सुकुमार मुझको रोकता है !

जितना नूतन प्यार तुम्हारा

जितना नूतन प्यार तुम्हारा,
उतनी मेरी व्यथा पुरानी
एक साथ कैसे निभ पाये,
सूना द्वार और अगवानी।

तुमने जितनी संज्ञाओं से
मेरा नामकरण कर डाला
मैंने उनको गूँथ-गूँथकर
साँसों की अर्पण की माला
जितना तीखा व्यंग्य तुम्हारा
उतना मेरा अन्तर मानी
एक साथ कैसे रह पाये
मन में आग, नयन में पानी।

कभी-कभी मुस्काने वाले
फूल-शूल बन जाया करते
लहरों पर तिरने वाले
मँझधार कूल बन जाया करते
जितना गुंजित राग तुम्हारा
उतना मेरा दर्द मुखर है
एक साथ कैसे पल पाये
मन में मौन, अधर पर बानी।

सत्य-सत्य है किन्तु स्वप्न में–
भी कोई जीवन होता है
स्वप्न अगर छलना है तो
सत का सम्बल भी जल होता है
जितनी दूर तुम्हारी मंज़िल
उतनी मेरी राह अजानी
एक साथ कैसे मिल पाये
कवि का गीत, संत की बानी।

इन्दिरा गौड़

मैं सतह पर जी न पाई

मैं सतह पर जी न पाई
और तुम उतरे न गहरे।
मैं रही मैं, तुम रहे तुम
तुम सघन तो मैं तरल
बर्फ़ से होते सघन तो
बात हो जाती सरल
मैं उमगती बाण-गंगा
और तुम पाषाण ठहरे।
भीड़ में तो हूँ मगर मैं
भीड़ का हिस्सा नहीं,
भूलना सम्भव न होगा
सिर्फ़ मैं क़िस्सा नहीं
मैं नहीं उनमें हुए जो—
चेहरों के बीच चेहरे।
अधर से आई नयन में
मैं वही अभिव्यक्ति हूँ
भक्ति बनने की क्रिया में
चल रही अनुरक्ति हूँ
मैं निरन्तर साधना हूँ
और तुम सपने सुनहरे।
मुक्त नभ को छोड़ भूले—
से, भला क्या चुन लिया
एक पिंजरा देह का था
एक ख़ुद ही बुन लिया
आर्त स्वर हैं प्रार्थना के
हो गये पर देव बहरे।

गीत का पहला चरण हूँ

गुनगुनाओ तो सही तुम तनिक मुझको
मैं तुम्हारे गीत का पहला चरण हूँ।

जब तलक अनुभूत सच की
शब्द-यात्रा है अधूरी
झेलनी है प्राण को
गंतव्य से तब तलक दूरी
समझ पाया आज तक कोई न जिसको
उस अजानी-सी व्यथा का व्याकरण हूँ।

अधिकतर सम्बन्ध ऐसे
राह में जो छोड़ देते
प्राण तक गहरे न उतरें
सतह पर दम तोड़ देते
बहुत कम होता सही अनुवाद मेरा
प्रश्न-पत्रों का अदेखा अवतरण हूँ।

कुछ गिनी साँसें मिलीं हैं
एक भी घट-बढ़ न पाती
जन्म के संग मृत्यु आई
हर समय साँकल बजाती
चल रहा है सृष्टि में हर पल निरन्तर
जो कभी रुकता नहीं ऐसा क्षरण हूँ।

जन्म से ले मृत्यु तक का
सफ़र जाने कब कटेगा
रात के अन्तिम प्रहर में
कुछ कुहासा तो छँटेगा
देह-मन्दिर में जले मन आरती-सा
प्रार्थना से पूर्व का वातावरण हूँ।

रमेश रंजक

मुट्ठी भर बाँधकर

मुट्ठी भर बाँधकर इरादे
बाँहों भर तोड़कर क़सम
गीतों के रेशमी नियम जैसे—
वैसे ही टूट गये हम

यह जीवन
धूप का कथानक था
रातों का चुटकुला न था
पर्वत का
मंगलाचरण था यह
पानी का बुलबुला न था

आँगन का आयतन बढ़ाने
बढ़ने दो-चार सौ क़दम
हमने दीवार की तरह तोड़ी
परदों की साँवली शरम
    भर बाँधकर इरादे...

तीसरे दिन

मुझे हर तीसरे दिन
तीलियों का पुल बुलाता है
शाम कहती है—कहो क्या बात है ?
एक शीशा टूट जाता है

बिखर जाती हैं सितारों की तरह किरचें
(नंगे) पाँव डरते हैं
और उड़-उड़कर किताबों के नये पन्ने
मना करते हैं
बदन सारा कसमसाता है

धूल में मैली हुई है
पर न मैली हुई जो मन से
झाँकती है जब कभी तस्वीर वह
कभी खिड़की, कभी आँगन से
नींद की दो डोरियों के बँधे पाँवों में
कौन है जो थरथराता है ?
एक शीशा टूट जाता है।

सोम ठाकुर

कृते गीत : कवि उवाच

कहने को तो हम आवारा स्वर हैं,
इस वक़्त सुबह के आमंत्रण पर हैं,
हम ले आये हैं बीज उजाले के
पहचानो, सूरज के हस्ताक्षर हैं!

अपना ऐसा मधुवन्त कलेजा था,
जो कुटियों में भी सत्य सहेजा था,
प्यासे क्षण में जो तुम्हें मिला होगा
वह मेघदूत हमने ही भेजा था,
भूली मंज़िल की राहें पाने को,
हम दिलगीरों से नज़र मिलाने को
माथे को ज़्यादा ऊँचा क्या करना,
हम धरती पर ही बैठे अम्बर हैं।

ये साँसें ऐसी गन्ध सँजोती हैं,
जो सदियाँ हम से चन्दन होती हैं
कहने को तो सीपी में बन्द रहे
वैसे हम जन्मजात ही मोती हैं
हम कालजयी ऐसी भाषा सीखे—
जिस युग में दीखे आबदार दीखे
हमने कोई आकार न स्वीकारा
हम एक बूँद में सिमटे सागर हैं।

हम राही अनदेखी राहों वाले,
अमरौती तक लम्बी बाँहों वाले
ज्वालामुखियों की आग बता देगी

हम हैं कैसे अन्तर्दाहों वाले,
अपना तेवर मंगलाचरण का है,
हम उठे समय का माथा ठनका है
अंधी उलझन के वक़्त चले आना
हम धरती पर ही बैठे अम्बर हैं।

तन हुए शहर के

तन हुए शहर के
पर, मन जंगल के हुए।
शीश कटी देह लिए
हम इस कोलाहल में
घूमते रहे लेकर
विष-घट छलके हुए।

छोड़ दीं स्वयं हमने सूरज की उँगलियाँ
आयातित अन्धकार के पीछे दौड़कर।
देकर अंतिम प्रणाम धरती की गोद को
हम जिया किए केवल ख़ाली आकाश पर।
ठंडे सैलाब में बहीं बसन्त-पीढ़ियाँ,
पाँव कहीं टिके नहीं
इतने हलके हुए।

लूट लिए वे मेले घबराकर ऊब ने
कड़वाहट ने मीठी घड़ियाँ सब माँग लीं।
मिटे हुए हस्ताक्षर भी आदिम गन्ध के
बुझी हुई शामें कुछ नज़रों ने टाँग लीं।
हाथों में दूध का कटोरा
चन्दन-छड़ी—
वे सारे सोन प्रहर
रिसते जल के हुए।

कहाँ गये बड़ी बुआ वाले वे आरते
कहाँ गये गेरू-काढ़े वे सतिये द्वार के
कहाँ गये थापे वे जीजी के हाथों के
कहाँ गये चिकने पत्ते वन्दनवार के
टूटे वे सेतु जो रचे कभी अतीत ने
मंगल त्योहार-वार
बीते कल के हुए।

मुकुटबिहारी सरोज

वस्तुस्थिति

शीर्षक
एकांकी का,
स्वगत, बनने पर विवश है,
तुम!
क़सम से, ख़ूब, रचनाकार हो।

गर्व से मुखपृष्ठ
जिनको शीष धारें
आज उन पर हाशियों तक आ बनी है
जब कि मुद्रित कोष की
उपलब्धियों से-
कोठरी की पाण्डुलिपि ज़्यादा धनी है
अक्षरों को अंक करके
धर दिया है,
तुम क़सम से
ख़ूब साहूकार हो।

हो चुके आयात के
निर्यातकों को
मिल गये विज्ञापनों के शंख ख़ाली
और यों, नवलेखनों के
मानकों ने
खोज ली, अमरत्व की मौलिक प्रणाली
ख़ूब हैं नीचाइयाँ
ऊँचाइयों की
क्या नहीं हो, प्रेस हो, अख़बार हो।
तुम क़सम से ख़ूब
रचनाकार हो।।

गणित का गीत

हो गया है, हर इकाई का विभाजन
राम जाने गिनतियाँ, कैसे बढ़ेंगी?

अंक अपने आप में पूरा नहीं है
इसलिए कैसे दहाई को पुकारे,
मान, अवमूल्यित हुआ है सैकड़ों का
कौन इस गिरती अवस्था को सुधारे

जोड़-बाक़ी एक से दिखने लगे हैं
राम जाने पीढ़ियाँ कैसे पढ़ेंगी ?

शेष जिसमें कुछ नहीं ऐसी इबारत
ग्रन्थ के आकार में आने लगी है
और मजबूरी, बिना हासिल किए कुछ
साधनों का कीर्तन, गाने लगी है

माँग का मुद्रण नहीं करतीं मशीनें
राम जाने, क़ीमतें कितनी चढ़ेंगी?

भूल बैठे हैं, गणित, व्यवहार का हम
और बिलकुल भिन्न होते जा रहे हैं

मूलधन इतना गँवाया है कि ख़ुद से-
ख़ुद ब ख़ुद ही खिन्न होते जा रहे हैं

भाग दें तो भी बड़ी मुश्किल रहेगी
राम जाने, सर्जनाएँ क्या गढ़ेंगी?

शिवबहादुर सिंह भदौरिया

नदी का बहना मुझमें हो

मेरी कोशिश है कि—
नदी का बहना मुझमें हो।

तट से सटे कछार घने हों,
जगह-जगह पर घाट बने हों,

टीलों पर मन्दिर हों जिनमें—
स्वर के विविध वितान तने हों ;

मीड़-मूर्च्छनाओं का—
उठना-गिरना मुझमें हो।

जो भी प्यास पकड़ ले कगरी,
भर ले जाये ख़ाली गगरी,
छूकर तीर उदास न लौटें—
हिरन कि गाय कि बाघ कि बकरी,

मच्छ मगर घड़ियाल—
सभी का रहना मुझमें हो।

मैं न रुकूँ संग्रह के घर में,
धार रहे मेरे तेवर में,
मेरा बदन काटकर नहरें—
ले जायें पानी ऊपर में;

जहाँ कहीं हो,
बंजरपन का मरना मुझमें हो।

सूखे का गीत

सूख रहे धान और पोखर का जल,
चलो पिया गुहरायें बादल-बादल।

लदे कहाँ नींबू या फालसे, करौंदे,
बये ने बनाये हैं कहाँ घर-घरौंदे,
पपिहे ने रचे कहाँ—
गीत के महल,
ग़ज़ल कहाँ कह पाये ताल में कँवल।

पौधों की कजराई, धूप ले गयी,
रात भी उमंगों के रूप ले गयी ;
द्वारे पुरवाई
खटकाती साँकल
आयी है लेने कंगन या पायल।

इन्द्र को मनोयेंगे टुटकों के बल,
रात ढले निर्वसना जोतेंगी हल;
दे जाना
तन-मन से होकर निर्मल,
कोंछ भरा चबेना औ' लोटे भर जल।

देवीप्रसाद शुक्ल 'राही'

कितना घूँघट और उठाऊँ

कितना घूँघट और उठाऊँ घर की लाज ढँकी रह जाए।

मैंने फ़ुटपाथों, गलियों में बहुत किरायेदारी की है,
थोड़ा बंजारों से हटकर जीने की तैयारी की है,
जीवन ऐसा प्रश्न दोस्तो—जिस पर ज़ोर नहीं चलता है
अर्ध-विराम भले लग जाये—पूर्ण विराम नहीं लगता है,
कितना ख़ून-पसीना बाँटूँ, गति की धुरी सधी रह जाए।

दोषी हूँ तो बस इतने का अपने पाँव चला जीवन भर
जिनका सूरज भिखमंगा था उनके गाँव जला जीवन भर,
अपने घर भी दिया जलाना सच कहता हूँ सरल नहीं है
कलाकार जिसको न पी सके—कोई ऐसा गरल नहीं है,
उनकी बात अलग है, जिनकी तट से नाव बँधी रह जाए।

कोई सोए फ़ुटपाथों पर कोई राजमहल में सोए,
कोई सोए साथ पिया के कोई ताजमहल में सोए,
उनको नींद कहाँ से आए जिनकी नाव भँवर में नाचे,
है कोई कवि की पीड़ा को—उसके भीतर घुस कर बाँचे,
उन काँटों की बात अलग है, जिनकी नोंक धँसी रह जाए।

रूप से कह दो

रूप से कह दो कि देखे दूसरा घर—
मैं ग़रीबों की जवानी हूँ, मुझे फ़ुर्सत नहीं है

बचपने में मुश्किलों की गोद में पलती रही है मैं,
धुएँ की चादर लपेटे, हर घड़ी जलती रही मैं,
ज्योति की दुल्हन बिठाये, ज़िन्दगी की पालकी में–
साँस की पगडंडियों पर, रात दिन चलती रही मैं,
वे ख़रीदें स्वप्न, जिनकी आँख पर सोना चढ़ा हो–
मैं अभावों की कहानी हूँ, मुझे फ़ुर्सत नहीं है।।

झोंपड़ी मेरी बहिन, फ़ुटपाथ है वीरन हमारा
माँ ग़रीबी, क़र्ज़ बापू, दर्द है साजन हमारा,
एक सौतिन-सी मुसीबत, हाथ धो पीछे पड़ी है
खण्डहरों से पूछ लेना, है कहाँ छाजन हमारा,
और होंगे वे कि जो रंगरेलियों से घर बसायें
मैं दुखों की राजधानी हूँ, मुझे फुर्सत नहीं है।।

मानती हूँ मैं कि मैं भी, आदमी का मन लिये हूँ
देह की दीवार पर, तस्वीर-सा यौवन लिये हूँ,
भूख की ज्वाला बुझाऊँ या रचाऊँ रास-लीला
आदमी हूँ, देवताओं से कठिन जीवन लिये हूँ,
तितलियो ! पूरा चमन है प्यार का व्यापार कर लो
मैं समर्पण की दिवानी हूँ, मुझे फ़ुर्सत नहीं है।।

जी रही हूँ क्योंकि मैं, निर्माण की पहली कड़ी हूँ
आदमी की प्रगति बनकर, हर मुसीबत से लड़ी हूँ
मैं समय के पृष्ठ पर, श्रम की कहानी लिख रही हूँ–
नींद की मदिरा न छिड़को, मैं परीक्षा की घड़ी हूँ
हो जिन्हें अवकाश, खेलें रूप-रंगों के खिलौने–
मैं पसीने की रवानी हूँ, मुझे फ़ुर्सत नहीं है।।

ज़िन्दगी आख़िर कहाँ तक, सब्र की मूरत गढ़ेगी
घुटन जितनी ही अधिक हो, आँच उतनी ही बढ़ेगी,
आँधियों को भी बुलाना, दर्दवाले जानते हैं
रूढ़ियों की राख, कब तक आग के सर पर चढ़ेगी ?
शौक़ हो जिनको, जिएँ परछाइयों की ओट लेकर–
मैं उजाले की निशानी हूँ, मुझे फ़ुर्सत नहीं है।।

चन्द्रदेव सिंह

बाँधो मत

बाँधो मत,
बाँधो मत; आँचर के खूँटे कुछ फूल और–
बाँधो मत।

पिछली यात्राओं के धूलि कण–
अभी तलक–
पैरों से लगे हैं।
गलियों-चौराहों पर–
पेड़ों-दीवारों पर–
लिखे हुए उपहासों के अक्षर–
अभी तक टँगे हैं
माँगो मत; दर्द के सिवाने पर आकर कुछ शब्द और
माँगो मत।

अभी मन में–
आल्हा-कजरी-चैता-विरहा के डेरे हैं
अभी मेरे आस-पास
अनगिन अभिशापों, अनपेक्षित शंकाओं के–

लाख-लाख घेरे हैं
रोपो मत; काँटों के वन में कुछ शूल और
रोपो मत।
बाँधो मत; आँचर के खूँटे कुछ फूल और
बाँधो मत।

सुबह ही दिन ढल गया

सुबह ही दिन ढल गया।
रास्ता ही रास्ते को छल गया।

हम चले थे—हाथ में सूरज,
निगाहों में हिमाचल के शिखर बाँधे;
क्या पता था—
काफ़िले के रहनुमा ही डाल देंगे—
बीच में काँधे !
और ऐसे मोड़ पर—
जब अँधेरा ही नहीं बस—
रहज़नों के काफ़िले भी मिल गये हैं-
फ़रिश्तों के-से लबादे ओढ़ कर।

अब नहीं पहचान का—
संकट कहीं;
आस्था का स्वत्व ही—
निष्फल गया।

सुबह ही दिन ढल गया।
रास्ता ही रास्ते को छल गया।

रामस्वरूप सिंदूर

मरने से क्या होगा

रो-रो मरने से क्या होगा
हँसकर और जियो।
वृद्ध-क्षणों को बाहुपाश में
कसकर और जियो।

रक्त दौड़ता अभी रगों में इसे न जमने दो,
बाहर जो भी हो पर भीतर लहर न थमने दो,
चक्रव्यूह टूटता नहीं तो
धँसकर और जियो।

श्वास जहाँ तक बहे, उसे बहने का मौक़ा दो,
जहाँ डूबने लगे, उसे कविता की नौका दो
गुंजन-जन्मे संजालों में
फँसकर और जियो।

टूटे सपने जीने का अपना सुख होता है,
सूरज धुंध-धुंध आँखें शबनम में धोता है,
ज्वार-झेलते अन्तरीप में
बसकर और जियो।

सावन में

मैं अपने ही अधर चूम लूँ दरपन में।
यह कैसा पानी बरसा इस सावन में ?

अधरों पर धर गया बाँसुरी,
लीलाधर बादल कोई।
मैं जितना जागा-जागा
संसृति उतनी सोयी-सोयी।।

बिजली कौंधे आग लगे चन्दन-वन में।
यह कैसा पानी बरसा इस सावन में ?

आँखों की झील में तैरता
सपना एक शिकारे-सा।
तन की घाटी में बजता है,
भींगा मन इकतारे-सा।।

प्राणों में साकेत प्राण वृन्दावन में।
यह कैसा पानी बरसा इस सावन में ?

खारे सागर में उभरी
तल तक डूबी सरिताएँ।।
महा मौन में अनुगुंजित,
आदिम यौवन की कविताएँ।।

होना है नौका विहार जल-प्लावन में।
यह कैसा पानी बरसा इस सावन में ?

शेरजंग गर्ग

सौ-सौ प्रतीक्षित पल गये

सौ-सौ प्रतीक्षित पल गये
सारे भरोसे छल गये
किरणें हमारे गाँव में

ख़ुशियाँ नहीं लाईं।

महका नहीं मुरझा हृदय
चहकी नहीं कुछ ताज़गी
मानी नहीं, मानी नहीं
पतझार की नाराज़गी
मरते रहे, खपते रहे
प्रतिकूल धारों में बहे
लेकिन सफलता दो घड़ी

मिलने नहीं आई।

अपना समय भी ख़ूब है
भोला सृजन जाये कहाँ
छलछद्म तो स्वाधीन हैं
ईमान पर पहरा यहाँ
औ' इस क़दर गतिरोध पर
जग वृद्ध के गतिरोध पर
नाराज़ बिलकुल भी नहीं

नादान तरुणाई।

पर ख़ुदकुशी होगी नहीं
छायी रहे कितनी ग़मी

हर एक दुख के बाद भी
जीवित रहेगा आदमी
हर लड़खड़ाते गान को
गिरते हुए ईमान को
अक्षर किसी दिन थाम लेंगे

प्रेम के ढाई।

चढ़ गया दिल पर इशारों का नशा

उनके कहने से गुनहगार हुए बैठे हैं,
उनकी ख़ातिर ही सज़ावार हुए बैठे हैं।
एक कारण है महज़ अपनी मुसकराहट का,
उनकी नज़रों में गिरफ़्तार हुए बैठे हैं।

उनकी हर एक शिकायत का ज़हर पी लूँगा,
उनकी हर एक शरारत का ज़हर पी लूँगा।
बाद मरने के मेरे उनको मुहब्बत तो रहे,
इसलिए झूम कर नफ़रत का ज़हर पी लूँगा।

रात को है चाँदतारों का नशा,
फूल को मधुमय बहारों का नशा।
आँख क्या उनसे मिली है प्यार से,
चढ़ गया दिल पर इशारों का नशा।

रूप की रेशमी बाँहों का गिला क्या करना,
उनकी रूठी-सी निगाहों का गिला क्या करना।
ख़ुद ही लाख प्रयत्नों पे भी सुधरे न हमीं,
आज फिर उनके गुनाहों का गिला क्या करना !

नारायणलाल परमार

तन्वंगी यह नदी-धार

पर्वत भैया अभी खेत से
लौटे, खड़े हुए,
तन्वंगी यह नदी-धार
भौजी-सी भली लगे।

बार-बार लोनी लहरों की
चूनर सरकाए,
नयी उमर का गीत सलोना
बस गाती जाए,
क्षण भर गहन गँभीर, दूसरे
क्षण मनचली लगे।

बहती जाए देह कि जैसे
अंतहीन आँधी,
पीछ-पीछे दौड़ लगाती
हवा बनी बाँदी,
प्यासे तटबन्धों को तो
मिसरी की डली लगे।

जहाँ मिले पौधे शरारती
खूब गये डाँटे,
मीठे चुम्बन हरियाली को
किन्तु कई बाँटे।
तनिक परस ही पेड़ों को
सुख की अंजली लगे।

दिन पके हुए

पपीते की तरह हैं दिन पके हुए।

पहले की तरह नहीं
धूप नाचती,
मैले कपड़े-लत्ते
हवा काँचती,
नज़र नहीं आते भौंरे थके हुए।

अंबिया ने शुरू किया
अभी झाँकना,
पत्तों को है पसन्द
गप्प हाँकना,
ताल-तलैया पुरइन से ढँके हुए।

आँखों में अभी कहाँ
चढ़ी ख़ुमारी,
मेड़ों पर यात्राएँ
फिर भी जारी,
अधरों पर गीत, गन्ध में छके हुए।

नईम

धुँधले प्रतिबिम्ब

धुँधले प्रतिबिम्ब और काँपती लकीर।

पीले पन्नों को जो मोड़ रहे
भीड़ को
अकेले में छोड़ रहे
धारा से कटे हुए उम्र के फ़क़ीर।

तीन पात ढाक के लगाये हैं
जागे तो, प्रेत ही जगाये हैं—
पगड़ी से
झाँक रहे हरण किए चीर।

नयी फ़सल कौड़ी के लेखे में
गाड़ रहे अब भी
उखड़े खेमे
सीने से चिपकाए टूटी तस्वीर।

दाग़ नहीं छूटे

दामन को मल-मलकर धोया,
दाग़ नहीं छूटे।
बड़ी पुण्य-भागा है शिप्रा।
कालिदास के मेघदूत-सा डूबा, उतराया
ठहरा, मँडराया।

काट रहा हूँ अपना बोया
कर्म किसे फूटे।

रंग उड़ गये थे जो गहरे
मौन पितामह, स्वजन मौन है, झुक आए कन्धे
पिता हुए अन्धे।
पाकर भी मैंने सब खोया
भाग्य रहे रूठे।

आज उम्र के विकट मोड़ पर
औंधे किसी कूप में जैसे राह नहीं दिखती
थाह नहीं दिखती।
चन्दनमन जी भरकर रोया
नाग नहीं छूटे।

ओम प्रभाकर

दृश्य घाटी में

बीत गए दिन
　　फूल खिलने के।

होती हैं केवल वनस्पतियाँ
हरी-हरी-सी
हर गली
हर मोड़ पर बैठी
मौत अपनी बाँह फैलाकर।
बर्फ़-सा
जमता हुआ हर शख़्स
चुप्पियों में क़ैद हैं साँसें,
समय की नंगी सलीबों पर
गले में अटकी हुईं फाँसें,
लिख रहे हैं
लोग कविताएँ
नींद की ज्यों गोलियाँ खाकर।
बीत गये दिन
अब हवाओं में गन्धकेतु हिलने के
फूल खिलने के।

ढोती है काले पहाड़ दृष्टियाँ
　　सूर्य झर गए,
दृश्य घाटी में गहरे उतर गए,
बीत गये दिन
उठी बाँहों से बाँहों के मिलने के
फूल खिलने के।

ओ प्रिया

ओ प्रिया
पिन्हाऊँ तुम्हें जुही के झुमके।

इस फूली संझा के तट पर,
आ बैठें बिलकुल सट-सटकर,
दृष्टि कहे जो
उसे सुनें तो
अर्थ खिलेंगे नये आज गुमसुम के।

किरन बनाती तुझे सुहागिन,
आँखें खोल अरी बैरागिन,
इत-उत अहरह
अहरह इत-उत
लट ले तेरी मदिर हवा के ठुमके।

बेकल उत्साही

सूखे का ?

खेत का मुखड़ा बदरा ताके, रूप दुल्हन का अँचरा ताके
साँझ की छैयाँ तके सवेरा—गाँव तके वीरानी,
राम जाने कब बरसेगा पानी ?

सावन भादों साधू हो गये, बादल सब संन्यासी,
पछुआ चूस गयी पुरवा को धरती रह गयी प्यासी,
फ़सलों ने बैराग ले लिया—जोगिया हो गयी धानी
राम जाने कब बरसेगा पानी ?

छप्पर पर पुरवैया बैठी धूप टँगी अँगनाई,
द्वार का बरगद ठूँठ हो गया उजड़ गयी अमराई
चौपालों से खलिहानों तक—सूरज की मनमानी
राम जाने कब बरसेगा पानी ?

प्यास के अंधियारे में भटके तन-मन का उजियारा,
होंठों की सब मदिरा पी गया शब्दों का बंजारा,
ममता अपने लाल को तजकर, चले राह अनजानी
राम जाने कब बरसेगा पानी ?

पिघल गया चेहरों का सोना उतर गयी महताबी,
गोरी बाँहें हुई सांवरी बुझ गये नयन गुलाबी,
सपने झुलस गये राधा के—श्याम हुए सैलानी
राम जाने कब बरसेगा पानी ?

ताल तलैया माटी चाटें नदिया रेत चबाये,
कुएँ में मकड़ी जाला ताने नहरों चील उड़ाये,
उबहन से गगरी रूठी है—पनघट से बहुरानी
राम जाने कब बरसेगा पानी।

गंगा मइया भीख माँगती हिमगिरवर के द्वारे,
दानी ही भिक्षा की ख़ातिर अपना हाथ पसारे,
दूध से पत्थर देव नहायें—चुप हैं धरम के ज्ञानी
राम जाने कब बरसेगा पानी।

धान चर गया नीलगगन गेहूँ डीज़ल व्यापारी,
भूखी बिजुली लूट ले गयी क़र्ज़े भी सरकारी,
गूँगे बहरे बैल बंधिया जपें सन्त की बानी
राम जाने कब बरसेगा पानी।

बाज़ारों में बिखर गयी महँगाई की तस्वीरें,
हमदर्दों के पाँव पड़ गयीं वायदों की ज़ंजीरें,
संसद की कुर्सी में धँस गयी—खेती और किसानी
राम जाने कब बरसेगा पानी।

रात सुनसान

रात सुनसान है
राह वीरान है—ठहरो ठहरो अकेले कहाँ जाओगे ?

देखो साहिल पे वो किश्तियाँ रुक गयीं
बादबां गिर गये बल्लियाँ झुक गयीं
कोई माफ़ी नहीं घाट ख़ामोश है
हर थपेड़े में ख़तरा सियाहपोश है
आज तूफ़ान है
अज़्म नादान है—ठहरो ठहरो अकेले कहाँ जाओगे ?

अजनबी की सुलगती हुई वह चिता
पास उसके सिसकती हुई ममता
आग है ना धुआँ हादिसा हो गया,
ज़ीस्त का आख़िरी फ़ैसला हो गया।
आगे श्मशान है।
क़ीमती जान है—ठहरो ठहरो अकेले कहाँ जाओगे ?

विष्णुकुमार त्रिपाठी 'राकेश'

कुन्तलों की छाँव

कुन्तलों की छाँव का तम
हो न जीवन में कभी कम !

बँध गये तो बँध गया जग
खुल गये तो उड़े पन्नग
चोटियों में बँट गये तो
बन गये वामन झुके नग
दर्प-चूर्णा चटुल वेणी
डोलती ज्यों शिखर-श्रेणी
जगमगाते तिमिर-वन में–
चाँद-तारे भी गये थम !

चरण छूती असित माया
ढँक गयी रजताभ्र काया
यही वह सन्धि-स्थली है
जहाँ मिलते धूप-छाया
प्राण-धन लहरा रहे हैं
जीवन-जग पर छा रहे हैं
कर रहे मन-प्राण शीतल
शमित करते ताप-त्तप-श्रम !

सिहरतीं रेशमी अलकें
तुहिन-वसना बिन्दु झलकें
खिलखिलाते कुटिल झरने

ज्यों भरे मधु-पात्र छलकें
सहस्रानन शेष डोले
शम्भु ने भी जूट खोले
विश्व सारा सिमट आया
सो गए संयम-नियम-यम !

भीड़ में नहीं हूँ

भीड़ में खड़ा पर भीड़ में नहीं हूँ
बहुत अकेला पर नीड़ में नहीं हूँ

कोई कसौटी हो, निखरा खरा हूँ
ख़ाली हाथ आया फिर भी भरा हूँ
जीवन की लालसा सचमुच अनोखी
रात दिन झुलसा हूँ फिर भी हरा हूँ

अजब तमन्ना है साँसों के सितार का
मौन में मुखर पर मीड़ में नहीं हूँ !
भीड़ में खड़ा पर भीड़ में नहीं हूँ !

लगता नहीं मन कैसे भी कहीं भी
बुझीं कामनाएँ कभी जो रहीं भी
उलझ-उलझ सदा सुलझा पहेली-सा
माया का झमेला, हूँ भी नहीं भी

शिखा के शिखर पर खिलते अनार-सा
वह्नि-वृंत हूँ पर चीड़ में नहीं हूँ !
भीड़ में खड़ा पर भीड़ में नहीं हूँ !

चंद्रसेन 'विराट'

पाटल-पाटल है

किसी के स्पर्शों से मेरी
देह सब पाटल-पाटल है।

प्राण में जली प्रणय की लौ
काम्य कौमार्य कपूर हुआ,
आरती श्वास, रोम अक्षत
लाज का स्वर सिन्दूर हुआ,
प्यार की पूजा के पल में
समर्पित तन—तुलसीदल है।

प्रणय-पुष्पों की गन्ध लिए
साँस के सार्थवाह निकले,
गीत गन्धर्वी आत्मा से
पूर्ण करके विवाह निकले,
वृत्ति अब जैसे वंशी है,
मर्म अब जैसे मादल है।

देह की शिरा-शिरा गोपी
गूँजता मन-वृन्दावन है,
मग्न हैं महारास में सब
ब्रह्मसुख पाने का क्षण है।
हृदय के श्याम व्यथाकुल हैं,
प्रीति की राधा विह्वल है।

देह के मस्तूल

अंजुरी—जल में प्रणय की,
अर्चना के फूल डूबे।
ये अमलतासी अँधेरे,
और कचनारी उजेरे,
आयु के ऋतुरंग में सब
चाह के अनुकूल डूबे।

स्पर्श ने संवाद बोले,
रक्त में तूफ़ान घोले,
कामना के ज्वार-जल में
देह के मस्तूल डूबे।

भावना से बुद्धि मोहित—
हो गयी प्रज्ञा तिरोहित,
चेतना के तरु-शिखर डूबे,
सुसंयम—मूल डूबे।

श्यामसुन्दर घोष

ये दिन आए

ये दिन आए।

धूप करूँ नीलाम
न कोई बोली बोले,
आस-पास सूना-सूना
सन्नाटा डोले,
हवा हाँक दे,
कोई नहीं तनिक पतियाए।

रंग-बिरंगे फूलों का
बाज़ार लगाऊँ,
और शाम तक कुछ न
बेच पाऊँ, पछताऊँ
देखे दुनिया,
ताना मारे, हँसी उड़ाए।

अब गीतों के होंठों-कंठों
बसी उदासी,
सपने क्वाँरे ही घर छोड़
हुए संन्यासी,
युग बीते
कलियों पर नहीं मधुप मँडराए।

ये दिन आए।

गया है घुन सभी कुछ

गया है घुन सभी कुछ
दूर तक, गहरे, बहुत गहरे।

बहुत चिनका हुआ शीशा
किसी ने रँग दिया जैसे,
बहुत चमका दिया हो या कि
घिसकर पुराने पैसे,

हुई नज़रें सभी धुँधली
हुए हैं कान सब बहरे।

बिवाई भरे पाँवों से
घिसटता चल रहा हर क्षण,
रुलाई रोककर सँभला
हुआ ज्यों-त्यों सभी का मन,

ज़बां गूँगी सभी की
और उस पर हैं कड़े पहरे।

वीर सक्सेना

आँखों में चुभता था

आँखों में चुभता था टूटा आकाश
डूब गया हूँ काले जलवाले ताल में !

मेरे तो रेत में ही धँसने थे पाँव,
ऐसे ही रुकना था
मेरे जैसे यायावर का भटकाव
होना ही था मेरा मोहभंग
कहीं नहीं दूब
अब तो है मन जैसे
बंजर भूखंड हुआ करता अकाल में !

किसके अपने स्वर हैं ?
शहर अब पत्थरों के
छोटे टुकड़े भर हैं। मैं भी चुन सकता था
वृत्ति जो बदलता तो
मैं भी सुविधाओं का रेशम बुन सकता था
सहनी है जब अपने होने की यातना।
उलझूँ क्यों अर्थहीन प्रश्नों के जाल में।

सबके ही भाल पर पसीना,
सबके ही चेहरों पर अपराधी-भाव
सारी ही भीड़ शोक-मग्न एक साथ
ऐसे है भयाक्रांत
सबका ही जैसे हो हत्या में हाथ
अनिच्छा से शामिल हूँ मैं भी शवयात्रा में
आती दुर्गंध बहुत मरे हुए छाल में !

वसन्त गीत

फागुन ने आ
मुर्दाघर के दरवाज़े पर दस्तक लगाई।
शहर में बसन्त ऋतु आई !

सड़क भी हथेली पर उग आई
पीले चेहरेवाले फूलों की सरसों
हिलती हवाओं में
हाथों की सूखी शाखाएँ
अभी-अभी भिखमंगे दिन ने
तुतलाते सूर्यमुखी बच्चे को
भीख माँगनेवाली भाषा सिखाई।

मज़दूरी मिलते ही मौसम का छोकरा
पोत गया धूप की दिवारों पर
ये स्याह रंगों के पोस्टर :
ऊँची इमारतों के नीचे
घूमती दुपहरी को
सौंप गया अपनी दिन भर की कमाई।

लौटने को आतुर हैं
स्याह कमल कोष्ठों में
भँवरों के झुंड
तितलियों के समूह
घुल रहे अँधेरे में टेसू के रंग।

अभी-अभी व्यवसायी आकाश
भोगकर ढकेल गया
जिस गन्दी बस्ती में—
उसके ही पास बने
पुल के नीचे छुपकर
शाम ले रही है उबकाई।

ताराप्रकाश जोशी

कोई और छाँव देखेंगे

कोई और छाँव देखेंगे।
लाभों-घाटों की नगरी तज
चल दे और गाँव देखेंगे।।

सुबह-सुबह के सपने लेकर
हाटों-हाटों खाये फेरे।
ज्यों कोई भोला बनजारा
पहुँचे कहीं ठगों के डेरे।।
इस मंडी में ओछे सौदे
कोई और भाव देखेंगे।।

भरी दुपहरी गाँठ गँवाई
जिससे पूछा बात बनाई।
जैसे किसी ग्रामवासी की
महानगर ने हँसी उड़ाई।।
ठौर-ठिकाने विष के दागे
कोई और ठाँव देखेंगे।।

दिन ढल गया उठ गया मेला
ख़ाली रहा उम्र का ठेला।
ज्यों पुतलीघर के पर्दे पर
खेला रह जाये अनखेला।।
हार गये यह जनम जुआ में
कोई और दाँव देखेंगे।।

किसे बतायें इतनी पीड़ा
किसने मन आँगन में बोई।
मोती के व्यापारी को क्या
सीप उम्र भर कितना रोई।।
मन के गोताख़ोर मिलेंगे
कोई और नाव देखेंगे।।

तेरे-मेरे बीच कहीं है

तेरे-मेरे बीच कहीं है एक घृणामय भाईचारा।
सम्बन्धों के महासमर में तू भी हारा मैं भी हारा।।

बँटवारे ने भीतर-भीतर
ऐसी-ऐसी डाह जगाई।
जैसे सरसों के खेतों में
सत्यानाशी उग-उग आयी।।
तेरे-मेरे बीच कहीं है टूटा-अनटूटा पतियारा।
सम्बन्धों के महासमर में तू भी हारा मैं भी हारा।।

अपशब्दों की बंदनवारें
अपने घर हम कैसे जायें।
जैसे साँपों के जंगल में
पंछी कैसे नीड़ बनायें।।
तेरे-मेरे बीच कहीं है भूला-अनभूला गलियारा।
सम्बन्धों के महासमर में तू भी हारा मैं भी हारा।।

आहत सोये जर्जर जागे
जीवन ऐसी एक व्यथा है।
जैसे किसी फटी पोथी में
लिखी हुई प्रतिशोध-कथा है।।

तेरे-मेरे बीच कहीं है झूठा-अनझूठा हरकारा।
सम्बन्धों के महासमर में तू भी हारा मैं भी हारा।।

बचपन की स्नेहिल तसवीरें
देखें तो आँखें दुखती हैं।
जैसे अधमुरझी कोंपल से
ढलती रात ओस झरती है।।
तेरे-मेरे बीच कहीं है बूझा-अनबूझा उजियारा।
सम्बन्धों के महासमर में तू भी हारा मैं भी हारा।।

जय का तिमिर महोत्सव तेरा
क्षय का अग्निपर्व है मेरा।
तेरे घर शापों का डेरा
मेरे घर शापों का डेरा।।
तेरे-मेरे बीच कहीं है डूबा-अनडूबा उजियारा।
सम्बन्धों के महासमर में तू भी हारा मैं भी हारा।।

श्रीकृष्ण तिवारी

सन्नाटे की झील

बाँस-वनों से गूँज सीटियों की आई,
सन्नाटे की झील पाँव तक थर्राई।

अनदेखे हाथों ने लाकर चिपकाए
दीवारों पर टूटे पंख तितलियों के,
लहर भिगोकर कपड़े पोंछ गयी सारे
दरवाज़ों पर उभरे चिह्न उँगलियों के,
खिड़की पर बैठे-बैठे मन भर आया
द्वार बन्द कमरे में तबीयत घबराई।

शीशे के जारों में बन्द मछलियों ने
सूनी आकृतियों में रंग भरे गहरे,
शब्दों को हिलने-डुलने न कहीं देते
नये-पुराने अर्थों के दुहरे पहरे,
एक प्रश्न जो सारे बन्धन खोल गया
उत्तर की सीमा उसको न बाँध पाई।

कमरे के कोने में पत्र पड़े कल के
हवा उड़ा ले गयी साथ गलियारों में,
सारा का सारा घर-आँगन भीग गया
गली सड़क को धोती हुई फुहारों में,
टकराकर बँट गयी हज़ारों कोणों में
आदमक़द दर्पण में मेरी परछाई।

आत्मबोध

रोज़ ज़हर पीना है।
सर्प-दंश सहना है,
मुझको तो जीवन भर
चन्दन ही रहना है।

वक़्त की हथेली पर
प्रश्न-सा जड़ा हूँ मैं,
टूटते नदी तट पर
पेड़-सा खड़ा हूँ मैं,
रोज़ धूप पीनी है,
सूर्य-दंश सहना है,
कितना भी चिटकूँ पर
दर्पण ही रहना है।

शब्द में जनम लेकर
अर्थ में पला हूँ मैं,
भोर की प्रतीक्षा में
रातभर जला हूँ मैं
रोज़ जलन पीनी है,
अग्नि-दंश सहना है,
मुझको तो लपटों में
कंचन ही रहना है।

सत्यनारायण

नदी-सा बहता हुआ दिन

कहाँ ढूँढ़ें—
नदी-सा
　　बहता हुआ दिन।

वह गगन भर धूप
सेनुर और सोना,
धार का दरपन
भँवर का फूल होना,
　　हाँ,
　　किनारों से
　　कथा कहता हुआ दिन !

सूर्य का हर रोज़
नंगे पाँव चलना
घाटियों में हवा का
कपड़े बदलना,
　　ओस
　　कुहरा, घाम
　　सब सहता हुआ दिन !

कौन देगा
मोरपंखों से लिखे छन
रेतियों पर
सीप-शंखों से लिखे छन,
　　आज
　　कच्ची भीत-सा
　　ढहता हुआ दिन!

सूने घर में

सूने घर में
कोने-कोने
मकड़ी बुनती जाल।

अम्मा बिन
आँगन सूना है
बाबा बिन दालान
चिट्ठी आयी है
बहिना की
सांसत में है जान,
नित-नित
नये तगादे भेजे
बहिना की ससुराल।

भइया तो
परदेश बिराजे
कौन करे अब चेत
साहू के खाते में
बन्धक है
बीघा भर खेत,
शायद
कुर्की ज़ब्ती भी
हो जाये अगले साल।

ओर छोर
छप्पर का टपके
उनके काली रात
शायद अबकी
झेल न पाये
भादो की बरसात,

पुरखों की
यह एक निशानी
किसे सुनाए हाल।

फिर भी
एक दिया जलता है
जब साँझी के नाम
लगता
कोई पथ जोहे
खिड़की के पल्ले थाम,
बड़ी-बड़ी दो आँखें
पूछें
फिर-फिर वही सवाल।

सूने घर में
कोने-कोने
मकड़ी बुनती जाल।

बुद्धिनाथ मिश्र

जाल फेंक रे मछेरे

एक बार और जाल फेंक रे मछेरे !
जाने किस मछली में बन्धन की चाह हो!

सपनों की ओस गूँथती कुश की नोंक है
हर दर्पण में उभरा एक दिवालोक है
रेत के घरौंदों में सीप के बसेरे
इस अँधेर में कैसे नेह का निबाह हो !

उनका मन आज हो गया पुरइन पात है
भिगो नहीं पाती यह पूरी बरसात है
चन्दा के इर्द-गिर्द मेघों के घेरे
ऐसे में क्यों न कोई मौसमी गुनाह हो !

गूँजती गुफ़ाओं में पिछली सौगन्ध है
हर चारे में कोई चुम्बकीय गन्ध है
कैसे दे हंस झील के अनंत फेरे
पग-पग पर लहरें जब बाँध रही छाँह हों !

कुंकुम-सी निखरी कुछ भोरहरी लाज है
बंसी की डोर बहुत काँप रही आज है
यों ही ना तोड़ अभी बीन रे सँपेरे
जाने किस नागिन में प्रीत का उछाह हो !

गांधारी ज़िन्दगी

बीत गयी बातों में
रात वह ख़यालों की
हाथ लगी निंदियारी ज़िन्दगी।
आँसू था सिर्फ़ एक बूँद
मगर जाने क्यों
भींग गयी है सारी ज़िन्दगी।।

वे भी क्या दिन थे
जब सागर की लहरों ने
घाट बँधी नावों की
पीठ थपथपाई थी।
जाने क्या जादू था
मेरे मनुहारों में
चाँदनी लजाकर
इन बाँहों तक आई थी

अब तो गुलदस्ते में
बासी कुछ फूल बचे
और बची रतनारी ज़िन्दगी।

मन के आईने में
उगते जो चेहरे हैं
हर चेहरे में, उदास हिरनी की आँखें हैं
आँगन से सरहद को
जाती पगडंडी की
दूबों पर बिखरी, कुछ बगुलों की पाँखें

अब तो हर रोज़
हादसे गुमसुम सुनती है
अपनी यह गांधारी ज़िन्दगी।

जाने क्या हुआ
नदी पर कोहरे मँडराए
मूक हुई साँकल
दीवार हुई बहरी है
बौरों पर पहरा है
मौसमी हवाओं का
फागुन है नाम
मगर जेठ की दुपहरी है

अब तो इस बियाबान में
पड़ाव ढूँढ़ रही
मृगतृष्णा की मारी ज़िन्दगी।

माहेश्वर तिवारी

झील का ठहरा हुआ जल

उँगलियों से कभी
हल्का-सा छुएँ भी तो
झील का ठहरा हुआ जल
काँप जाता है।

मछलियाँ बेचैन हो उठतीं
देखते ही हाथ की परछाइयाँ
एक कंकड़ फेंककर देखो
काँप उठती हैं सभी गहराइयाँ
और उस पल झुका कन्धों पर क्षितिज के
हर लहर के साथ
बादल काँप जाता है।

जानते हम
जब शुरू होता कभी
कँपकँपाहट से भरा यह गंदुमी बिखराव
टूट जाता है अचानक बेतरह
एक झिल्ली की तरह पहना हुआ ठहराव
जिस तरह ख़ूंख़ार
आहट से सहमकर
सरसराहट भरा जंगल काँप जाता है।

याद तुम्हारी

याद तुम्हारी जैसे कोई
कंचन-कलश भरे।
जैसे कोई किरन अकेली
पर्वत पार करे।

लौट रही गायों के
सँग-सँग
याद तुम्हारी आती
और धूल के
सँग-सँग
मेरे माथे को छू जाती
दर्पण में अपनी ही छाया-सी
रह-रह उभरे,
जैसे कोई हंस अकेला
आँगन में उतरे।

जब इकला कपोत का
जोड़ा
कँगनी पर आ जाये
दूर चिनारों के
वन से
कोई वंशी स्वर आये
सो जाता सूखी टहनी पर
अपने अधर धरे
लगता जैसे रीते घट से
कोई प्यास हरे।

किशन सरोज

धुन्ध में डूबे हुए

फिर हमें पहुँचा गयी
जलते वनों तक
वंचना हँसते गुलाबों की।

धुन्ध में डूबे नदी के घाट
गूँजी रात में आसावरी
देखती निर्जन महल को मौन
तिल-तिल छीजती बारादरी

बाल खोले घूमती
अब खंडहरों में,
वासना बूढ़े-नवाबों की।

चुक गये संदर्भ बाँचे कौन
गाकर अब अलावों पर कथा
जानता है बस अकेला ताल
तुलसी और पीपल की व्यथा

नग्न ले आयी
सड़क पर पीढ़ियों को
सर्जना सस्ती किताबों की।

थक गये हैं जंग खाये तीर
अब टूटी कमानों पर चढ़े
प्रश्न है थामे पताका कौन
पहले कौन रथ आगे बढ़े

जीततीं भूखे
सवालों से समर में
तृप्त सेनाएँ जवाबों की।

छोटी से बड़ी हुईं

छोटी से बड़ी हुईं तरुओं की छायाएँ
धुँधलाईं सूरज के माथे की रेखाएँ
मत बाँधो, आँचल में फूल चलो लौट चलें
वह देखो ! कुहरे में चन्दन-वन डूब गया।

माना सहमी गलियों में न रहा जायेगा
साँसों का भारीपन भी न सहा जायेगा
किन्तु विवशता यह यदि अपनों की बात चली
काँपेंगे अधर और कुछ न कहा जायेगा।

वह देखो ! मन्दिरवाले वट के पेड़ तले
जाने किन हाथों से दो मंगल दीप जले
और हमारे आगे अँधियारे सागर में
अपने ही मन-जैसा नील गगन डूब गया।

कौन कर सका बन्दी रोशनी निगाहों में
कौन रोक पाया है गन्ध बीच राहों में
हर जाती सन्ध्या की अपनी मजबूरी है
कौन बाँध पाया है इन्द्रधनुष बाँहों में।

सोने-से दिन, चाँदी-जैसी हर रात गयी
काहे का रोना जो बीती सो बात गयी
मत लाओ नयनों में नीर कौन समझेगा
एक बूँद पानी में, एक वचन डूब गया।

भावुकता के कैसे केश सँवारे जाएँ ?
कैसे इन घड़ियों के चित्र उतारे जाएँ ?
लगता है मन की आकुलता का अर्थ यही
आगत के द्वारे हम हाथ पसारे जाएँ।

दाह छुपाने को अब हर पल गाना होगा
हँसनेवालों में रहकर मुस्काना होगा
घूँघट की ओट किसे होगा सन्देह कभी
रतनारे नयनों में एक सपन डूब गया।

कृष्ण मित्र

आँगन से होकर आया है

सारा वातावरण तुम्हारी साँसों की ख़ुशबू से पूरित है
शायद यह मधुमास तुम्हारे आँगन से होकर आया है।

इससे पहले यह मादकता, कभी न थी वातावरणों में
महक न थी ऐसी फूलों में, बहक नहीं थी आचरणों में
मन में यह भटकाव, न मौसम में इतना आवारापन था
मस्ती का माहौल नहीं था, जीवन में बस खारापन था
लेकिन कल से अनायास ही मौसम में इतना परिवर्तन
शायद यह वातास तुम्हारे मधुबन से होकर आया है।

आज न जाने अरुणोदय में, शबनम भी सुस्मित सुरभित है
किरणों में ताज़गी सुवासित, कलियों का मस्तक गर्वित है
आकाशी नीलिमा न जाने क्यों कर संयम तोड़ रही है
ऊषा का अनुबन्ध अजाने पुलकित मन से जोड़ रही है
ऐसा ख़ुशियों का मौसम है, बेहोशी के आलम वाला
शायद पुष्पित हास तुम्हारे गोपन से होकर आया है।

मेरे चारों ओर तुम्हारी ख़ुशियों का उपवन महका है।
शायद इसीलिये बिन मौसम मेरा मन पंछी चहका है
मलयानिल चन्दन के बन से खुशबू ले अगवानी करता
उन्मादी मधुऋतु का झोंका सबसे छेड़ाखानी करता
सिन्दूरी सन्ध्या सतवन्ती साज सँवारे मुस्काती है
यह चन्दनी सुवास तुम्हारे उपवन से होकर आया है।

तुम्हें देखकर

तुम्हें देखकर मुझको यूँ लग रहा है
समर्पण में कोई कमी रह गई है।

मधुर प्यार के उन सुगन्धित क्षणों में
तुम्हें मुझसे कोई शिकायत नहीं थी
न कोई गिला था तुम्हारे हृदय में
परस्पर कहीं कुछ अदावत नहीं थी
बिना बात माथे की इन सलवटों में
उदासी की जो बेबसी दीखती है
संशकित मेरा मन है, या बेरुख़ी है
या अर्पण में कोई कमी रह गई है।

अगर दिल में कोई भी नाराज़गी थी
तो खुलकर कभी बात करते तो क्या था
दिखावे की ख़ातिर न यूँ मुस्कराते
मुझे देखकर न सँवरते तो क्या था
मैं खोया रहा मन्द मुस्कान में ही
न उलझन भरी भावना पढ़ सका मैं
मेरी आँख ने कुछ ग़लत पढ़ लिया था
या दर्पण में कोई कमी रह गई है।

विगत में जो तारीकियों के सहारे
उजालों की सद्कल्पना हमने की थी
वचन कुछ लिये कुछ दिये थे परस्पर
सवालों की शुभकामना हमने की थी
उन्हीं वायदों की शपथ के भरोसे
मैं खुशियों की बारात ले आ गया हूँ।
भटकती हैं यादों की प्रेतात्माएँ
या तर्पण में कोई कमी रह गई है।

कुमार शिव

फटे हुए चेहरे

हम बिम्बित दर्पण के
सामने खड़े होकर
गिनते हैं फटे हुए चेहरों की झुर्रियाँ।

सूरज का यान चला
हवा में उछालकर
मेघों के इश्तिहार।
बैंजनी अँधेरे में
दौड़ रहे निरुद्देश्य
आँखों के घुड़सवार।
वर्तमान की
चिकनी-चमकीली फिसलन पर
रखने हैं काँटों से छिदी हुई एड़ियाँ।

पंक्तिबद्ध चेहरों की
देखते विवशता हम
पास से गुज़रते हैं।
आदमी नहीं हैं हम
भीड़ों के जंगल में
वृक्ष बने फिरते हैं।
धूप की कुल्हाड़ी से
समय चोट करता है
हवा में हिलाते हैं, हम सूखी डालियाँ।

कागज़ के इन्सान

सड़क किनारे उकडूँ बैठे
ठिठुरे हुए मकान मिले।
गुमसुम तकते हुए शहर को
पीले रोशनदान मिले।

सर्र-सर्र उड़ रहे
न जाने किन हाथों में डोर बँधी।
कुछ हैं बिना इबारत के
कुछ पर है बारहखड़ी लिखी।
घर-घर में कनकौओं जैसे
कागज़ के इन्सान मिले।

जिन पर भ्रमवश खड़े हुए थे
वे रिश्तों के पुल टूटे।
ऐसा था बहाव पानी का
इन हाथों से तट छूटे।
तूफ़ानों के इस सागर में
सब टूटे जलयान मिले।

नरेश सक्सेना

साँकल खनकायेगा कौन

दिन भर की अलसाई बाँहों का मौन,
बाँहों में भर-भरकर तोड़ेगा कौन,
बेला जब भली लगेगी।

आज चली पुरवा, कल डूबेंगे ताल,
द्वारे पर सहजन की फूलेगी डाल,
ऊँची हर डाल को झुकायेगा कौन
चौथे दिन फली लगेगी।

दिन-दिन भर अनदेखा, अनबोली रात
आँखों की सूने से बरजोरी बात,
साँझ गये साँकल खनकायेगा कौन,
कितनी बेकली लगेगी।

बैठे हैं दो टीले

तनिक देर और पास-पास रहें,
चुप रहें, उदास रहें,
जाने फिर कैसी हो जाए यह शाम।

एक-एक कर पीले पत्तों का
टूटते चले जाना, इतने चुपचाप,
और तुम्हारा पलकें झपकाकर
प्रश्नों को लौटा लेना अपने आप।

दूर-दूर सड़क के किनारों पर
सूखे पत्तों के धुँधुआते-से ढेर,
एक तरफ़ बैठे हैं दो टीले
गुमसुम-से पीठ फेर-फेर,

डूब रहा सभी कुछ अँधेरे में
चुप्पी के घेरे में
पेड़ों पर चिड़ियों ने डाला कुहराम।

दिनेश सिंह

क़िस्से गुलनार के

पीपल के पके पात
पंछी पतझार के,
थोड़ी ऋतु और अभी बाक़ी है
उड़ने दो छंद ये बहार के।

फूल-फूल अगवानी
शूल, खिंची पेशानी।
मौसम का जाने कब तक है—
दाना-पानी।

पानी के पीछे हैं
क़िस्से गुलनार के !
थोड़ी लय और अभी बाक़ी है
उड़ने दो गीत नदी पार के।

भोरहरे की लाली
माँज रहा है माली
फूलों की आँखों में
है पूजा की थाली

थाली के फूल-फूल
रिश्ते अंगार के,
थोड़ी-सी बर्फ़ अभी बाक़ी है
गलने दो, दो पहर खुमार के।

सारा घर आग-आग हो गया

खिली धूप तुझको कह देने से
चेहरा-चेहरा चिराग़ हो गया।
तुझको जो चन्द्रमुखी कह दिया
सारा घर आग-आग हो गया।

सावन की धूप या कुआँर की
धूप नहीं होती है प्यार की।
फागुन की धूप बड़ी प्यारी है
मारी है मगर वह बयार की।

बहकती बयार तुझे कहने से
हर मौसम बाग़-बाग़ हो गया।
तुझको जो लाल परी कह दिया
सारा दिन आग-आग हो गया।

तुझ-जैसी बहकती बयार मिले,
या कोई जलता अंगार मिले।
पुरवइया सपनों तक ले जाये
दर्द पोर-पोर, तार-तार मिले।

स्वप्न-सुन्दरी तुझको कहने से
हर सपना ही सुहाग हो गया
मौलसिरी तुझको जो कह दिया
फूल-फूल, आग-आग हो गया।

गुलाब सिंह

अपने ही साये

कितने बेगाने लगते हैं
ये अपने ही साये,
सपने हमें यहाँ तक लाये।

प्यारी रातें, नींद सुहानी
चढ़ता गया सिरों तक पानी,
कागज वाले गुलदस्तों से
हमने की कल की अगवानी,
दो हाथों की सौर पुरानी
पाँव ढंकें तो मुँह खुल जाये।

सुख का महल, अटारी-कोठा,
कन्धे डोर हाथ में लोटा
रोने मुँह धोने के खातिर
आखिर और कौन धन होता ?
वैभव के इस राजभवन में
हम साभार गये पहुँचाये।

घर के भीतर डर जगता है,
बाहर अँधियारा लगता है,
उमड़े, उठे, आँख भर आये
धुआँ, आग का सही पता है,
रोज-रोज की गीली सुलगन
फूँक लगे शायद जल जाये।

दिन

फूलों भरी हरी धरती से
झुककर कुछ कहते हैं दिन।

कच्चा रेशम धूप हो गयी
नदी दूध की धोई,
रात चाँदनी झोंपड़ियों के
गले लिपटकर रोयी,
पगडंडी के सूनेपन को
सुबह-शाम सहते हैं दिन।

सरसों के पीले पृष्ठों पर
हवा गीत-गोविन्द लिखे,
रहकर मौन दर्द दुहराते
शीश झुकाए गाँव दिखे,
बजते हैं बाँसुरी सरीखे,
आँसू-से बहते हैं दिन।

सूखे अधर, प्यास पथराई
नयन उरेहें सपने,
पानी-पत्थर बीच प्यार के
अँखुए लगे पनपने,
शाकुन्तल, सतसई खोलकर
मोरपंख रखते हैं दिन।

कुँअर बेचैन

तुम्हारे हाथ से टँककर

तुम्हारे हाथ से टँककर
बने हीरे, बने मोती
बटन मेरी क़मीज़ों के।

नयन को जागरण देतीं,
नहायी देह की छुअनें,
कभी भीगी हुई अलकें
कभी ये चुम्बनों के फूल
केसर-गन्ध-सी पलकें,
सवेरे ही सपन झूले
बने ये सावनी लोचन
कई त्योहार तीजों के।

बनी झन्कार वीणा की
तुम्हारी चूड़ियों के हाथ में
यह चाय की प्याली,
थकावट की चिलकती धूप को
दो नैन-हरियाली,
तुम्हारी दृष्टियाँ छूकर
उभरने और ज्यादा लग गये हैं
रंग चीज़ों के।

एक सीढ़ी और

एक सीढ़ी और चढ़ आया
समय इस साल,
जाने छत कहाँ है ?

प्राण तो हैं प्राण
जिनको देह-धनु से
छूटना है,
ज़िन्दगी - उपवास
जिसको शाम के क्षण
टूटना है,
हम समय के हाथ से
छूटे हुए रूमाल,
जाने छत कहाँ है ?

यह सुबह, यह शाम
बुझते दीपकों की
व्यस्त आदत,
और ये दिन-रात
कोने से फटे,
ज़ख़्मी हुए ख़त,
यह हथेली भी हुई है
मकड़ियों का जाल,
जाने छत कहाँ है ?

दिनेश मिश्र

जीत अपनी है

मैं अँधेरे के पहरुओं से उलझता,
तुम ज़रा-सा रोशनी को थाम लेना।

मैं घिरा हूँ आँधियों के दायरों में,
ज़िन्दगी को तुम नया आयाम देना।

खोलता हूँ मैं दिशाओं के झरोखे,
इन्द्रधनुषी गगन पर मेरी नज़र है।
देखता है ललक से यायावरी मन,
वह क्षितिज के पार जो जाती डगर है।
मैं सुबह सम्भावनाओं की जगाता,
तुम सफलता में नहाई शाम लेना।

सिसकती हैं दर्द से हर ओर साँसें,
ज़ुल्म की बीभत्स छाया हर कहीं है।
यूँ लगे अम्बार हैं लफ्फाज़ियों के,
साथ देने को यहाँ कोई नहीं है।
मैं सुनाऊँ दास्ताँ लाचारगी की,
तुम कहानी को भला-सा नाम देना।

है लड़ाई का अभी कोहराम लेकिन,
गीत नवयुग का दिशाएँ गा रही हैं।
जीत अपनी है, न तुम होना परीशां,
आज जो काली घटाएँ छा रही हैं।
मैं समर्पित हूँ भविष्यत की उषा को,
तुम उभरती पंक्ति को पैग़ाम देना ।

आओ कुछ राहत दें

आओ कुछ राहत दें इस क्षण की पीड़ा को
क्योंकि नये युग की तो बात बड़ी होती है,
अपने हैं लोग यहाँ, बैठो कुछ बात करो
मुश्किल से ही नसीब ऐसी घड़ी होती है।

दर्द से लड़ाई की काँटों से भरी उगर
एक शुरुआत करें आज रहे ध्यान मगर,
झूठे पैग़म्बर तो मौज किया करते हैं
ईसा के हाथों में कील गड़ी होती है।

हमराही हिम्मत से बीहड़ को पार करो
आहों के सौदागर तबकों पर वार करो
जिनको हम शेर समझ डर जाया करते हैं
अक़्सर तो भूसे पर ख़ाल मढ़ी होती है।

संकल्पों और लक्ष्य बीच बड़ी दूरी है
मन है मज़बूत मगर कैसी मजबूरी है,
जब तक हम जीवन की गुत्थी को सुलझायें
अपनी अगवानी को मौत खड़ी होती है।

देवेन्द्र कुमार

हम ठहरे गाँव के

हम ठहरे गाँव के
बोझ हुए रिश्ते सब
कन्धों के, पाँव के।

भेद-भाव, सन्नाटा,
ये साही का काँटा,
सीने के घाव हुए
सिलसिले अभाव के।

सुनती हो तुम रूबी,
एक नाव फिर डूबी,
ढूँढ़ लिये नदियों ने
रास्ते बचाव के!

सीना, गोड़ी, टाँगें,
माँगे तो क्या माँगें,
बकरी के मोल बिके
बच्चे उमराव के।

हमको भी आता है

पर्वत के सीने से झरता है झरना,
हमको भी आता है, भीड़ से
गुज़रना।
कुछ पत्थर, कुछ रोड़े
कुछ हंसों के जोड़े,
नींदों के घाट लगे
कब दरियाई घोड़े,
मैना की पाँखें हैं
बच्चों की आँखें हैं
प्यारी है नींद मगर शर्त है
उबरना।

खेतों से, मेड़ों से,
साखू के पेड़ों से,
कुछ ध्वनियाँ आती हैं
नदी के थपेड़ों से,
वर्दी में, सादे में,
बाढ़ के इरादे में,
आगे-पीछे पानी, देख के
उतरना।

गूँगी है, बहरी है
काठ की गिलहरी है,
आड़ में मदरसे हैं
सामने कचहरी है,
बँधे-खुले अंगों से,
भर पाया रंगों से,
डालों के सेब हैं, सँभाल के
कुतरना।

गोपाल चतुर्वेदी

महानगर

संन्यासी जीवन को
मेनका रिझाये
लोहे की बस्ती में
यों मधुऋतु आये !

हरसिंगार धरती पर
अल्पना बिखेरे
तितली के रंग रचें
मौसमी चितेरे !
स्नेह की दुलाई के
साथ कुनमुनाये!,

नपे-तुले शब्द फिर
मशीनी मुस्कानें
बर्फ़ीली तहों बीच
दफ़न हुई तानें
यन्त्रों के जंगल में
गति के चौपाये !

शरद की जुन्हाई के
दूधिया सकारे
ठिठुरी गौरय्या के साथ
मन निहारे
आधुनिक अँधेरों में
जुगनू के साये !

अब न आरसी अन्तर

धुआँ-धुआँ-सा मन में
इन्तज़ार है आये
धूप कभी आँगन में !

उठती हैं दीवारें–
ढहते सम्बन्ध,
ढल गये मशीनों में,
जीवन के छंद !

अमृत के नाम सिर्फ़
हमने तो विष पाया-
है सागर मंथन में !

कागज़ का चक्रव्यूह
चिन्तित है पार्थ,
फ़ाइल के फीते में
बेबस से साथ!

अपना अस्तित्व गुमा–
जाने किस कुरसी पर
नियम-नोट के वन में !

गिरकर के बिखर गया,
काँच का गिलास
साबित व्यक्तित्व नहीं–
किसी के पास !

जीते हैं रीते यों–
साँसों की भाप की
न गरमी तक दर्पण में !

आनन्द मिश्र

लालसा

जगा रही है किसकी स्मृति, विस्मृत सोया प्यार,
युग युग के संचित संयम को, आज गया मैं हार।
सुधियों के गजरे बिखराकर, आहों का उपहार,
दे जाती है रात मुझे, जब सो जाता संसार।
और देखता रहता अपलक, मैं रजनी के छाले,
जम जाते हैं नीले नभ में, हिम से बादल काले।
महाशून्य पर छा जाती है, नीरव, घोर, कुहार,
तब होता है कुमुद खिलाकर, प्राणों से व्यापार।
मानस की सुनसान गली में, उच्छ्वासों का मेला,
सजग वेदना की अठखेली, मेरा प्राण अकेला।
सुलझाता हूँ जीवन के क्षण किन्तु उलझते जाते,
अरुणा तक रोने लगती है, विषय भाव अकुलाते।
आज कामनाओं का मधुवन, सूना है फूलों से,
डुबा गया है कोई तरनी, आलिंगित कूलों से।
एक दिवस मेरी कुटिया में, तुम धीरे-से आये,
मेरे कवि ने प्रथम बार तब गीत मिलन के गाये।
और विलग होने की मन को तनिक नहीं थी आशा,
वे सोने के दिन थे मेरे जीवन की परिभाषा।
आज मुझे घेरे बैठे हैं, अँधियारों के ढेर,
हो न कहीं अपमान प्यार का, मत करना अब देर।
तुम्हें शपथ गलते बादल की, एक बार प्रिय आना,
जीवन के संक्रान्ति काल को लोरी गा दुलराना।
खो जाऊँ मैं उस अनन्त में, पावन हो अभिसार,
यह दीपक जल उठे चिरन्तन, इतनी है मनुहार।
जन्म-जन्म तक बसे रहोगे, धड़कन बने चितेरे,
एक यही लालसा शेष है, प्रतिक्षण जीवन घेरे।

रोशनी छलका रहा हूँ

धूल के सिर ताज हूँ मैं, आँसुओं का साज हूँ मैं,
वक़्त की आवाज़ हूँ मैं, यह ग़लतफ़हमी नहीं है।

गा रहा हूँ जो स्वरों में खींचकर मैं आग पानी,
यह इसी पथ की व्यथा है, यह इसी पथ की कहानी।
एक शीशा हूँ कि जिसमें जगमगाता है ज़माना,
ज़िन्दगी का राज़ हूँ मैं, यह ग़लतफ़हमी नहीं है।
वक़्त की आवाज़ हूँ मैं, यह ग़लतफ़हमी नहीं है।।

दर्द ने जो धन दिया है, उस लगन की बात क्या हो,
मैं जहाँ गाऊँ प्रभाती, उस गली में रात क्या हो,
नम रहूँ तो ओस हूँ मैं, सिर्फ़ इतना ही नहीं है,
गिर पड़ूँ तो गाज हूँ मैं, यह ग़लतफ़हमी नहीं है।
वक़्त की आवाज़ हूँ मैं, यह ग़लतफ़हमी नहीं है।।

रोशनी छलका रहा हूँ, चेतना बरसा रहा हूँ,
प्यार के पौधे हृदय की धूल में सरसा रहा हूँ,
लो कि वह जागी जवानी, यह ग़लतफ़हमी नहीं है,
भोर का अन्दाज़ हूँ मैं, यह ग़लतफ़हमी नहीं है।
धूल के सिर ताज हूँ मैं, आँसुओं का साज हूँ मैं,
वक़्त की आवाज़ हूँ मैं, यह ग़लतफ़हमी नहीं है।।

अश्वघोष

प्रीत-गन्ध

वासन्ती रूप की तरह
केसरिया धूप की तरह
प्रीत-गन्ध फैली।

ऋतुओं ने तोड़ दिए
वक़्त के कगार
मोती-सा दमक उठा
मटमैला प्यार।

स्वप्नमयी हूर की तरह
तन के मयूर की तरह
नाच उठी चेतना रुपहली
प्रीत-गन्ध फैली।

आँगन भर अनुभव ने
मोहबेल छोड़ी
जगवंती हो गयी
आस्था निगोड़ी।

अपराजित राग की तरह
फागुनी अनुराग की तरह
गूँज उठी एक स्वर-शैली
प्रीत-गन्ध फैली।

आम्र-मंजरी

कोयल ने कानों में कह दी
कुछ बात रस भरी
सुधियों में फूल गयी आम्र-मंजरी।

हरियाले पत्तों की पहने क़मीज़
अंग-अंग फूल रहे सृजन के बीज
तारों की दुनिया में
प्रियतम को छोड़
फुनगी पर बैठी है रात की परी।

सूरज ने चैता के डाकिये के हाथ
भेजी है प्यार की चटकिल सौगात
लज्जा के आँचल से
यौवन को ढाँप
धरती को देखती पसार अंजुरी
सुधियों में फूल गयी आम्र-मंजरी।

शतदल

एक ख़त जो किसी ने लिखा भी नहीं

एक ख़त जो किसी ने लिखा भी नहीं
उम्र भर आँसुओं ने उसे ही पढ़ा।

गंध डूबा हुआ एक मीठा सपन
करके प्रार्थना के समय आचमन
जब कभी गुनगुनाने लगे बाँस-वन
और भी बढ़ गया प्यास का आयतन

पीठ पर काँच के घर उठाये हुए
कौन किसके लिये पर्वतों पर चढ़ा।

जब कभी नाम देना पड़ा प्यास को
मौन ठहरे हुए नील आकाश को
कौन संकेत देता रहा क्या पता
होंठ गाते रहे सिर्फ़ आभास को

मोम के मंच पर अग्नि की भूमिका
एक नाटक यही तो समय ने गढ़ा।

एक ख़त जो किसी ने लिखा भी नहीं
उम्र भर आँसुओं ने उसे ही पढ़ा।

एक सपना उगा

एक सपना उगा जो नयन में कभी
आँसुओं से धुला और बादल हुआ !

धूप में छाँव बनकर अचानक मिला,
था अकेला मगर बन गया क़ाफ़िला।
चाहते हैं कि हम भूल जायें मगर,
स्वप्न से है जुड़ा स्वप्न का सिलसिला।

एक पल दीप की भूमिका में जिया,
आँज लो आँख में नेह काजल हुआ।

विजय किशोर 'मानव'

नावें पत्थर की

यात्राएँ गंगा सागर की नावें पत्थर की।
ऐसी बदल गयी है आबो हवा शहर भर की।।

चोंच पसारे चिड़िया बीने
आँगन-आँगन दाना
स्वाती भर सीपियाँ देखतीं
बादल आना-जाना

सूरज छूने की इच्छाएँ, क़ैदें हैं घर की।
यात्राएँ गंगा सागर की नावें पत्थर की।।

अक्षर-अक्षर स्याही आँजे
रंग पुते-से चेहरे
हमें मिली हैं चीखें
सुननेवाले सब बहरे

बाहर से मुस्कानें लगतीं चोटें भीतर की।
यात्राएँ गंगा सागर की नावें पत्थर की।।

खुले आम चुन दिये गये हैं
हम पूरे के पूरे
कोई रहे मदारी हमको
रहना सिर्फ़ जमूरे

हम झूठे ही मरे लाख क़समें खाईं सर की।
यात्राएँ गंगा सागर की नावें पत्थर की।।

इस शहर का आदमी

जाल कन्धों पर पड़े हैं
मुट्ठियों से झाँकते दाने,
इस शहर का आदमी पहचानिए।

हंस का जोड़ा डुबोए
चोंच पानी में
ढूँढ़ता है दूध की नदियाँ,
हाथ में आती नहीं
गिरकर बिखर जातीं
आईने-सी फ़र्श पर सदियाँ।
टेक बैसाखी खड़े हैं
चीख़ते हैं मुट्ठियाँ ताने
इस शहर का आदमी पहचानिए।

पीठ पर होती खरोंचें
गले मिलने की
पेट पर पदचिह्न होते हैं,
डाल पर लेती बसेरा
रात गौरैया
घोंसलों में बाज सोते हैं
यीशु शूली पर चढ़े हैं
भीड़ में कोई न पहचाने
इस शहर का आदमी पहचानिए।

विनोद निगम

बहरी आवाज़ों के घेरे

बहरी आवाज़ों के घेरे,
ध्वनियों के छोड़कर अँधेरे,
गीतों के गाँव चले आए,
हम नंगे पाँव चले आए।

सड़कें थीं, सड़कों में घर थे,
कोलाहल से भरे सफ़र थे,
हम थे सूखे वृक्षों जैसे,
जंगल से जल रहे शहर थे,
छोड़ सुलगते सवाल सारे,
सारे सम्बन्ध रख किनारे।
अपनी चौपाल चले आए,
बेबस बेहाल चले आए।

भीतर इक सूखती नदी है,
बाहर यह रोगिणी सदी है,
साँसों की मोम मछलियों को,
यह जलती रेत ही नदी है
अनवरत धुएँ की यात्राएँ,
छोड़ सभ्यता की कक्षाएँ,
छन्दों के द्वार चले आए,
हम बेघर-बार चले आए।

रेत से लिखो या जलधार से

रेत से लिखो या जलधार से लिखो,
मेरा है नाम, इसे प्यार से लिखो।

खोलकर हवाओं में
जूड़े सौरभ के
ओस से हथेली में, इन्द्रधनु कसेंगे हम
फूलों से भर देंगे
सूनी यात्राएँ
नीले जल में हिलते, दीप में बसेंगे हम
पलकों की स्याही से
अधर की गवाही से
या बाँहों के बन्दनवार से लिखो।

भर कर पूरनमासी चाँदनी
शिखाओं में,
बाँहों में धार नदी-निर्झर की जोड़कर
छोड़कर हिरन साँसों के
चन्दनवन में
हम-तुम बह जायेंगे, लहरों को तोड़कर
पल से, चाहे छिन से
या कि निमिषभर, मन से
दो मंगल अक्षर, त्योहार से लिखो।
मेरा है नाम, इसे प्यार से लिखो।

सूर्यभानु गुप्त

कामना मेरी कुतरती वो गिलहरी-सी

बेर, इमली, कैरियाँ, सबसे गुज़रती-सी,
कामना मेरी कुतरती वो गिलहरी-सी।

एक वासन्ती छुवन हर पोर में महकी
रंग जीवन के भरे हर बात में उसकी,
चुप रहे, फिर भी लगे वो बात करती-सी।
कामना मेरी कुतरती वो गिलहरी-सी।

फगुनहट कसती हुई हर तार को मन के,
उम्र भर को बाँध लो रिश्ते हरेपन के !
सोचती कुछ, फूल पर बैठी वो तितली-सी।
कामना मेरी कुतरती वो गिलहरी-सी।

खुल गयी इक नाव जैसे समय के जल में,
एक हलचल-सी मची है हर नये पल में,
हर लहर-संग एक उत्सव में उतरती-सी।
कामना मेरी कुतरती वो गिलहरी-सी।

कार्यक्रम बौरा गये दिन-रात के सारे,
आईने चेहरा गये दिन-रात के सारे,
आँख खोले नींद में लगती वो चलती-सी।
कामना मेरी कुतरती वो गिलहरी-सी।

इक अँगूठी से गुज़रता थान मलमल का,
ख़ुद की कस्तूरी से पागल, हिरन जंगल का,

यूँ खुली चुपके से उसमें एक खिड़की-सी।
कामना मेरी कुतरती वो गिलहरी-सी।

इक सुराही से नदी होते हुए चुप है,
एक लम्हे से सदी होते हुए चुप है,
दूर तक, हर शब्द के बाहर वो ठहरी-सी।
कामना मेरी कुतरती वो गिलहरी-सी।

पेड़ अब भी आदिवासी हैं

हो गयी सदियाँ मगर फिर भी,
है अजूबा, पेड़ अब भी आदिवासी हैं !

पत्तियाँ अब तक पहनते हैं,
मूड हो, नंगे भी रहते हैं,

पेड़ ख़ालिस पेड़ हैं अब भी,
पेड़ मुल्ला हैं, न पण्डित हैं, न पासी हैं !
पेड़ अब भी आदिवासी हैं...

जंगलों में या नगर में हों,
दूर घर से या कि घर में हों,

हैं जड़ें हर वक़्त धरती में,
इस सदी के होश आने की दवा-सी हैं!
पेड़ अब भी आदिवासी हैं...

साफ़ दिल यूँ, सोचते हैं जो,
फूल-पत्ते बोलते हैं वो,

छोड़ते हैं ओढ़कर ऋतुएँ,
आत्मा के अमर रहने की कथा-सी हैं
पेड़ अब भी आदिवासी हैं.....

घुट रहा है ज़िन्दगी का दम,
पेड़ इतने हो गये हैं कम,

खो चुकीं अपना हरापन जो,
उन अभागी ज़र्द नस्लों की उदासी हैं !
पेड़ अब भी आदिवासी हैं...

रामचन्द्र चन्द्रभूषण

बिखर गयीं शतरंजी गोटियाँ

बढ़ा और
सूरज का रक्तचाप
चेहरे दरख़्तों के
लग रहे छिपे हुए

बिखर गयीं
शतरंजी गोटियाँ
पत्ती ज्यों ताश की
दिन ने रखवाली की
लावारिस लाश की,

चीख़ अजनबीपन की
शून्य से भटक रही
उठ रहे बगूले
गुमराह काफ़िले हुए।

हर रिश्ते-नाते
लगते खट्टे-बासी
निगल रहीं—
मछलियाँ मरी हुई
अजगरी उदासी

हिलकते तनावों में
गुँथी माँसपेशियाँ
ज़ेहन में नामों के
ग़लत दाख़िले हुए।

अफ़वाहें

गर्म है बाज़ार
अफ़वाहों का
क्या होगा
गीत के गुनाहों का ?

लीक से अलग हूँ
लेकिन धुरियाँ वही
और वही पहिए
कहते हैं लोग
इसी ढंग से निबहिए

क्या होगा लेकिन
इस मन के दोराहों का
क्षण के चौराहों का !

काँटों में बिंधे हुए
कई अंतरंग वृत्त
खुद से हारे हुए,
मौसम के हैं हम
संदर्भ नकारे हुए,

क्या होगा
निजता के
मौन आत्मदाहों का !

महेन्द्र शंकर

नयनों में बूँदों का झरना

नयनों में बूँदों का झरना, सावन बाँध गया।
थिर नहीं मन का हिरना, सावन बाँध गया।

देखा न सागर, दूर है नदिया
कि पास में उमड़ी तलइया
बढ़-बढ़ चूमे दुअरिया
कि मुर के नरमी कलइया
लहरों का ताना ओ रहना, सावन बाँध गया।
थिर नहीं मन का हिरना, सावन बाँध गया।

रसे-रसे बहती बयार कि--
अँचरा-सी बँसवट डोले,
कि सूई-सी चुभती करील
महोफी लुक-छिप बोले
कानों में किसका कँहरना, सावन बाँध गया।
थिर नहीं मन का हिरना, सावन बाँध गया।

खुल गयी नींद बिखर गया सपना
खिड़की से आयी अँजोरिया
धीरे-धीरे टारे चनरमा
कि बदरी की अँचरी-मनोरिया
सपने में सुधियों का तिरना, सावन बाँध गया।
थिर नहीं मन का हिरना, सावन बाँध गया।

बदरिया झिमिर-झिमिर झिम बरसे

बदरिया झिमिर-झिमिर झिम बरसे
जैसे मोतियन लर टूटे।

भींगे हुए बादल छितरे हैं घटा घिरी घनघोर;
चुहल भरी चौआई चल-चल देती है झकझोर;
बूँदें छागल के घुँघरू-सी छन में—
छमक-छमक फूटे।

रिमझिम की सरगम में डूबे धरती और अकास,
नागिन जैसी झूम रही हैं फ़सलें भरी हुलास,
बिजली ऐसे कड़क गिरी है
कर से कँगना ज्यों छूटे।

आँखें भरी, गला रुँध आया, देख लहरता ताल
दूबों के झुरमुट में जुगनू बैठे दियना बाल
धुल-धुल निखरे आते मन में—
सुधि की सारी के बूटे।

कैलाश गौतम

रस्ते में बादल

रस्ते में बादल
दो-चार छू गये
घर
बिजली के
नंगे तार छू गये

आँगन में भागे
दालान में गये
एक अदद
मीठी मुस्कान में गये
अँधियारे
सौ-सौ
त्यौहार छू गये

बाँहों में झील भरे
ताल भरे हम
फूलों से लदी-लदी
डाल भरे हम
केवड़े कदंब
बार-बार छू गये।

बरखा में हरे-हरे
धान की छुअन
नहले पर दहला
मेहमान की छुअन
घर बैठे
बदरी केदार छू गए।

कल से डोरे डाल रहा है

कल से डोरे डाल रहा है
फागुन बीच सिवान में
रहना मुश्किल हो जाएगा
प्यारे बन्द मकान में।

भीतर से खिड़कियाँ खुलेंगी
बौर आम के महकेंगे
आँच पलाशों पर आयेगी
सुलगेंगे कुछ दहकेंगे
घर का महुवा रँग लाएगा
चूना जैसे पान में।

फिर अधखुली पसलियों की
गुदगुदी धूप में बोलेगी
पकी फ़सल-सी लदी ठिठोली
गली-गली फिर डोलेगी
कोहबर की जब बातें होंगी
उँगली दोनों कान में

रात गए पुरवा के झोंके
सौ आरोप लगाएँगे
सारस जोड़े
ताल किनारे
लेकर नाम बुलाएँगे
मन-मन भर के
पाँव पड़ेंगे
घर-आँगन-दालान में।

ब्रजराज तिवारी 'अधीर'

बह गया हूँ

मैं किसी की नयन-गंगा में—
बह गया हूँ।
आज ओ माझी! मुझे दे दो किनारा।

एक अनजानी किरन सहला गयी,
एक पहचानी लहर शरमा गयी,
किसी कच्चे वृक्ष-सा, मैं अचानक
आँधियों में ढह गया हूँ।
आज ओ माझी ! मुझे दे दो सहारा।

बिजलियों ने दूर से पथ मुझे दिखला दिया,
और बादल ने कहीं भटका दिया,
स्वप्न सब तृण की तरह टूटे, मगर—
मैं अभी कुछ टूटने को रह गया हूँ,
आज ओ माझी! मुझे दे दो सहारा।

एक शीशा सामने से छल गया,
सूर्य मेरा दोपहर में ढल गया,
चाँदनी-सी हँसी सबने बाँट ली
और सारा दर्द मैं ही सह गया हूँ
आज ओ माझी! मुझे दे दो सहारा।

रीता का रीता मन

रीता का रीता मन रह गया
नये वर्ष के दिन भी!

सुबह की हवाओं ने
आपस में बाँट ली बधाइयाँ
मेरे संग रह गयीं
केवल तनहाइयाँ
दिन ढलते, धूप-किरन अंग-अंग
तोड़कर चली गयी
रीता का रीता तन रह गया
नये वर्ष के दिन भी।

फूलों-सी एक दृष्टि के लिए
भीड़ भरे नगर-बीच खो गया,
देख-देख परिचित आकृतियाँ कतरा गयीं
उनको जाने यह क्या हो गया,
आकाशी दर्पन में उगा हुआ इन्द्रधनुष
पल में ही टूट कर बिखर गया
रीता का रीता क्षण रह गया
नये वर्ष के दिन भी।

नरेन्द्र चंचल

जीवन में आकर्षण

पलकों में गीलापन, मन में भी सूनापन
लगता है पर मुझको जीवन में आकर्षण।

सुबह-शाम दबे-दबे
घेरती उदासी है
चेहरे नूतन-अनगिन
सपना आकाशी है।

व्याकुलता ढाँक रही दीवारें औ आँगन
बहका-सा लगता है उभरा बहरा यौवन।

ओस पी गई किरणें
पाँखुरिया प्यासी है
थकी-थकी तृषित आँख
और भी रुआँसी है।

धुँधला-धुँधला सा है, प्रतिबिम्बों का दर्पण
किन्तु मुझे लगता यह दर्पण में है चितवन।

मन की सौ कुंठाएँ
गीतों का कथ्य नहीं
रूप सिर्फ़ जीवन का
इकलौता सत्य नहीं।

गीतों के सर्जन में आवश्यक है अर्पण
मानो या मत मानो मेरा जीवन-दर्शन।

दरवाज़े बंद मिले

बार-बार चिल्लाया सूरज का नाम
जाली में बाँध गई केसरिया शाम.
दर्प फूटना चाहा
अनचाहे छंद मिले
दरवाज़े बंद मिले।

गंगाजल पीने से हो गया पवित्र
यह सब मृगतृष्णा है, मृगतृष्णा मित्र !
नहीं टूटना चाहा,
शायद फिर गंध मिले
दरवाज़े बंद मिले।

धीरे-से बोल गई गमले की नागफनी
साथ रहे विषधर पर चंदन से नहीं बनी
दर्द लूटना चाहा,
नये-नये द्वंद्व मिले।
दरवाज़े बंद मिले।

उद्भ्रान्त

बर्फ़ जम गयी है

खुलकर हम-तुम कैसे बात करें
यहाँ-वहाँ, सब जगह
बर्फ़ जम गयी है।

कच्चे नाख़ूनों से
इसे कौन तोड़े
पता नहीं कहाँ गये
दर्प के हथौड़े

गति में कैसे झंझावात भरें
तेज़ी से भागती
सदी थम गयी है
यहाँ-वहाँ सब जगह
बर्फ़ जम गयी है।

मन से टकराता है
ऐसे सन्नाटा
कंठ में फँसे जैसे
मछली का काँटा

कैसे हम क़दम साथ-साथ धरें
कठिन आग ये
ठौर-ठौर रम गयी है
बर्फ़ जम गयी है
खुलकर हम-तुम कैसे बात करें।

मोरपंखी

फैलाया विषधर ने जाल मोरपंखी
चन्दन की देह को सम्हाल मोरपंखी !

घुमड़ रहे हैं काले आवर्त्तों में
बोझिल प्रश्नचिह्न
टकराते हैं आपस में सबके
दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न
सदियों के बाद आज
ले बैठा है करवट काल मोरपंखी
चन्दन की देह को सम्हाल मोरपंखी !

छाया है कुहरा, अब नहीं नज़र
आती है कहीं धूप
लगता जैसे नभ के प्रांगण में
उग आया अन्ध-कूप
मरकर बिजली मन की
ज़ोर से अस्तित्व निज उछाल मोरपंखी
चन्दन की देह को सम्हाल मोरपंखी !

भूल जा तू भूतकाल के स्वर्ण-
स्वप्न का किरण-वितान
सामने पड़ा तेरे क्षत-विक्षत
होकर यह वर्तमान
डाल दे दिशाओं की
गर्दन में वैजंतीमाल मोरपंखी
चन्दन की देह को सम्हाल मोरपंखी !

पद्मधर त्रिपाठी

स्थगित

जब भी चाहा–
खोल दूँ झरोखे
अँधेरे ने मुझे दिये
बार-बार धोखे!

क्या करता
बस यूँ ही सब-कुछ
सहना था
मुझको तो घर बाहर
बेज़ुबान रहना था
कैसे समझायें अब
सागर ने
कितने नदी-ताल सोखे!

हर शाम चीख़कर
दरवाज़े ने बताया
दिन भर बन्द रहा
कोई नहीं आया

–जाने क्यों चले गये
बाहर ही बाहर से
पुरवा के झोंके !

कौंध

इतने दिनों बाद
पानी
　　गिरा
अरसे से गुमसुम पड़ी
झील
डबडबाई...
एक चमक कौंध गयी
　　गीले अँधेरे में
परिचित लगी चुभन
आँख
भर आई!

अमरनाथ श्रीवास्तव

शोभा-यात्रा

प्रत्यंचित भौंहों के आगे
समझौते केवल समझौते।

भीतर चुभन सुई की,
बाहर सन्धि-पत्र पढ़ती मुस्कानें।
जिस पर मेरे हस्ताक्षर हैं,
कैसे हैं ईश्वर ही जाने।

आँधी से आतंकित चेहरे
गर्दख़ोर रंगीन मुखौटे।

जी होता आकाश-कुसुम को,
एक बार बाँहों में भर लें।
जी होता एकान्त क्षणों में
अपने को सम्बोधित कर लें।

लेकिन भीड़ भरी गलियाँ हैं
काग़ज़ के फूलों के न्योते।

झेल रहा हूँ शोभा-यात्रा
में चलते हाथी का जीवन।
जिसके ऊपर मोती की झालर
लेकिन अंकुश का शासन।

अधजल घट से छलक रहे हैं
पीठ चढ़े जो सजे कठौते।

पीहर का बिरवा

पीहर का बिरवा
छतनार क्या हुआ,
सोच रही लौटी
ससुराल से बुआ।

भाई-भाई फरीक
पैरवी भतीजों की
मिलते हैं आस्तीन
मोड़कर क़मीज़ों की
झगड़े में है महुआ
डाल का चुआ।

किसी की भरी आँखें
जीभ ज्यों कतरनी है,
किसी के सधे तेवर
हाथ में सुमिरनी है,
कैसा-कैसा अपना
ख़ून है मुआ।

खट्टी-मीठी यादें
अधपके करौंदों की,
हिस्से-बँटवारे में
खो गये घरौंदों की
बिच्छू-सा आँगन
दालान ने छुआ।

पुस्तैनी रामायन
बँधी हुई बेठन में
अम्मा ज्यों जली हुई
रस्सी हैं ऐंठन में

बाबू पसरे जैसे
हारकर जुआ।

लीप रही है उखड़े
तुलसी के चौरे को
आया है द्वार का
पहरुआ भी कौरे को,
साझे का है, भूखा
सो गया सुआ।

यश मालवीय

कमरों में कॉमरेड बैठे हैं

कमरों में कॉमरेड बैठे हैं
सड़कों पर ख़ून बह रहा है।

क्रान्ति तो किताबों में बन्द है
खुले हैं किवाड़ इतिहासों के
नारों की फ़सल उगे होंठों पर
सौ टुकड़े होते विश्वासों के
हरे-भरे सपनों की कौन कहे
जंगल में गीत दह रहा है।

लाशों को चीथ रहे कौवों की
अपनी क्या जात कहीं होती है
दिन पर दिन बढ़ते नाखूनों की
कोई तारीख़ नहीं होती है
सन्नाटा मौसम पर भारी है
कितना कुछ शब्द सह रहा है ?

सूरज के माथ पे पसीना है
सुबह कहीं खोई अफ़वाहों में
थर-थर-थर काँपती मुँडेरें हैं
सहमी है धूप क़त्लगाहों में
बदलेगा, यह सब कुछ बदलेगा
मूरख है, कौन कह रहा है?

सोचना ही साँस लेना है

विचारों ने थकाया है
मगर सोचेंगे हम कल की
हमें ही बात कहनी है
शहर में उगे जंगल की।

समझ लो तुम
हमारा सोचना ही साँस लेना है
अँधेरे में हैं जो
उनको सवेरा सौंप देना है
नया इतिहास लिखना है
हमें है फ़िक्र हर पल की।

हम अपनी मंज़िलों के
मोड़ पर आकर रुके से हैं
सभी को साथ लेना है
न समझो हम चुके से हैं
भला बरसात क्या
कुछ मुट्ठियों में बँधे बादल की।

हमें है तैरना जिसमें
समझ का इक समन्दर है
हमारी चेतना से बड़ा
आख़िर कौन ईश्वर है?
हमें है सींचना सच को
हमीं हैं नदी मरुथल की।

—

राधेश्याम तिवारी

सौ दरवाज़े खोलेंगे

टहनी-टहनी गले मिलेंगी
पत्ते-पत्ते डोलेंगे।

हवा कहाँ मानेगी
वह तो जायेगी सबके भीतर
बिना द्वार का इस दुनिया में
बना नहीं कोई भी घर
इक दरवाज़ा बन्द करोगे
सौ दरवाज़े खोलेंगे।

इतने लोग यहाँ बैठे हैं
फिर भी कोई बात नहीं
बिजली चमकी, बादल गरजे
पर आयी बरसात नहीं
कोई बोले या ना बोले
लेकिन हम तो बोलेंगे।

दिन बीते फिर रात आ गयी
लौट-लौट आए फिर दिन
लेकिन डसती रही सदा ही
दुःख की यह काली नागिन
फिर भी ये कन्धे अपने हैं
बोझ ख़ुशी से ढो लेंगे।

किससे दर्द कहें बिस्मिल

अबकी बार गया तो कितने
बदले-बदले गाँव लगे।

उजड़ गया था नीड़ प्यार का
चिड़िया चली गयी परदेश,
डूबी-डूबी रात अकेली
बैठी थी बिखराये केश,

पड़ते ही घर की देहरी पर
सौ-सौ मन के पाँव लगे।

खेतों की मेड़ों के काँटे
चीर रहे फ़सलों का दिल,
शातिर से सरपंच हो गया
किससे दर्द कहे बिस्मिल,

जब भी बात करे तो उसकी
बात-बात में दाँव लगे।

अबकी बार न कोयल बोली
अबकी बार न मुजरे आम,
दिन-दिन भर चीख़ा सन्नाटा
रात-रात भर रोयी शाम।

हँसी फागुनी कहाँ खो गयी
बुझे हुए सब ठाँव लगे।

भारतेन्दु मिश्र

आ गए बहेलिए

मंगल-ग्रह घाटी से
नीलकंठ हाथ लिए
आ गए बहेलिए।
रात-रात जागे हम
थे बड़े अभागे हम
दंगे हैं—राहत है
मौसम मर्माहत है
चलिए पहले चलकर
गेंद यह अमंगल की
दूर तक ढकेलिए।
तोतों ने पंख धरे
जुगनू घर-घर उतरे
तितली का रक्तचाप
उलक-उलक रहे माप
अपनी इस बस्ती में
विश्वासों की फ़सलें
फिर रचने के लिए।
तारों ने ताली दी
सूरज ने गाली दी
अब तक हम मौन रहे
अपनों के ज़ुल्म सहे
कुर्सी की राजनीति
सबके जज़्बातों से
इस तरह न खेलिए।

इस बस्ती में

ज्योति पुत्र कहलानेवाले
जितने खंभे गड़े हुए हैं
उतना घना अँधेरा है।

गाँधी की भी एक मूर्ति है
इस बस्ती में
यहाँ मवाली जुड़ते
ठर्रे की मस्ती में
पल-पल बदबू ढोनेवाले
इस हड़ताली नाले के
उस पार हमारा डेरा है।

घूम रहीं आवारा गायें
डगर-डगर में
सूअर राहें रोक खड़े हैं
दिन-दुपहर में
सरकस कुत्ते रोटी पाते
माँ के सूखे स्तन से चिपका
रोता रोज़ कनेरा है।

यहीं पास में काने बनिये
की दुकान है
कल्लू पनवाड़ी का खोखा
कीर्तिमान है
खेल खेलता था साँपों का
अब काग़ज़ से साँप बनाता
छज्जूराम सपेरा है।

ज़हीर कुरेशी

असली चेहरा याद नहीं

भीतर से तो हम श्मशान हैं
बाहर मेले हैं।

कपड़े पहने हुए
स्वयं को नंगे लगते हैं,
दान दे रहे हैं
फिर भी भिखमंगे लगते हैं,

ककड़ी के धोखे में
बिकते हुए करेले हैं।

इतने चेहरे बदले
असली चेहरा याद नहीं,
जहाँ न अभिनय हो
ऐसा कोई संवाद नहीं,

हम द्वन्द्वों के रंगमंच के
पात्र अकेले हैं।

दलदल से बाहर आने की
कोई राह नहीं,
इतने पाप हुए
अब पापों की परवाह नहीं,

हम आत्मा की नज़रों में
मिट्टी के ढेले हैं।

आत्म-अपरिचय का गीत

हम स्वयं से भी
अपरिचित हो गये हैं।

रास्ते हैं
और उनकी दूरियाँ हैं,
दूरियों की भी
अलग मजबूरियाँ हैं,

हम भटकते रास्तों में
खो गये हैं।

वासनाएँ
ज़िन्दगी से भी बड़ी हैं,
प्यास बनकर
उम्र की छत पर खड़ी हैं,

तृप्ति के पथ पर
मरुस्थल सो गये हैं।

पाँव पीछे
लौट जाना चाहते हैं,
लौटकर
धूनी रमाना चाहते हैं,

विगत पथ पर
लोग काँटे बो गये हैं।

हरिराम द्विवेदी

बड़े बौने बेसहारे दिन

बड़े बौने बेसहारे दिन
कट रहे फिर भी तुम्हारे बिन।

तन शहर में और मन है गाँव में
विवशता ने कील जड़ दी पाँव में
याद के दर्पण, छुए नागिन
बेबसी के बान मारे दिन।

रात गहरी झील कोई काँपती
हवा की हर लहर ठिठुरन नापती
निगोड़ी नाहक गड़ाये पिन
प्राण ढोये दर्द सारे दिन।

हर सुनहरी सुबह का मन फेंकना
दिन चढ़े तक धूप में तन सेंकना
सोचकर सिहरन जगे पलछिन
बड़े ही प्यारे उघारे दिन।

नींद खुलते रोज़ ही यह सोचना
उँगलियों से अनायास खरोंचना
बिना कारन तोड़ देना तिन
रहेंगे यूँ ही हमारे दिन।

बादल बैरी हुए

बादल बैरी हुए कि सूखी फ़सलें खड़ी सिवान की
घर की रोटी रूठी लगती, क्या सोचें मेहमान की ?

माथे हाथ धरे खटिया पर
घर का मुखिया सोचे
मेला जाने ख़ातिर मुन्ना
माँ को रह-रह नोचे
अबकी कठिन परीक्षा होनी है जैसे ईमान की
घर की रोटी रूठी लगती, क्या सोचें मेहमान की ?

चिन्ता भी अब बड़ी हो गयी
झुकी-झुकी हैं आँखें
सपनों में भीगी-भीगी
रहती पलकों की पाँखें
टूट-टूट कर रह जाती है आस लगी भगवान की
घर की रोटी रूठी लगती, क्या सोचें मेहमान की ?

बाप मरा माँ अन्धी
रजमतिया हो गयी सयानी
ग्राम प्रधान बुलाए घर
करवाए चौका पानी
और रातभर होती है ख़ातिर बाबू दीवान की
घर की रोटी रूठी लगती, क्या सोचें मेहमान की ?

तृतीय पर्व

(सुश्री) रमा सिंह

मेरी कुछ भी नहीं

मेरी क्या है कथा
कथा सब तेरी है।
मेरी कुछ भी नहीं
        व्यथा भी तेरी है।

जीवन के जो रंग-रूप हैं,
तेरे हैं।
जीवन के सब रंग-व्यंग्य भी
तेरे हैं।
        रेतीली धरती पर तूने
        लहर-लहर की
        हर तस्वीर उकेरी है।

मेरी क्या कुछ बात
बात भी तेरी है।
मेरी कुछ भी नहीं
घात भी तेरी है।
        मेरी सिर्फ़ तूलिका
        हँसती-रोती सूरत तेरी है।

मेरे गीत कहाँ हैं मेरे
सारे सुर
सारी लय-तानें तेरी हैं।

रामानन्द दोषी

मन होता है पारा

मन होता है पारा
ऐसे देखा नहीं करो !

जाने क्या से क्या कर डाला उलट-पुलट मौसम
कभी घाव ज़्यादा दुखता है और कभी मरहम !
जहाँ-जहाँ ज़्यादा दुखता है
छूकर वहीं दुबारा
ऐसे देखा नहीं करो !
मन होता है पारा !

कौन बचाकर आँख सुबह की नींद उतार गया
बूढ़े सूरज को पीछे से सीटी मार गया !
शक हम पर पहले से था
तुम करके और इशारा
ऐसे देखा नहीं करो !
मन होता है पारा !

होना जाना क्या है जैसे कल था, वैसा कल
मेरे सन्नाटे में बस ख़ामोशी की हलचल
अँधियारे की नेमप्लेट पर
लिखकर तुम उजियारा।
ऐसे देखा नहीं करो
मन होता है पारा !

रामावतार चेतन

मैंने अलसायी आँखों में

मैंने अलसायी आँखों में
मधुमय प्यार छिपा देखा है।

भौतिक अलंकार दोषों के संगोपन का एक बहाना
सुमनों ने कब गहे प्रसाधन, ऊषा ने शृंगार न जाना
मैंने उलझे-उलझे बालों में
शृंगार छिपा देखा है।
मैंने अलसायी आँखों में
मधुमय प्यार छिपा देखा है।।

कभी क्षणों में वर्ष समाते जो काटे जाते आँखों में
कभी वर्ष भी पल हो जाते जो कटते आँखों-आँखों में
मैंने एक निमिष में
सदियों का विस्तार छिपा देखा है
मैंने अलसायी आँखों में
मधुमय प्यार छिपा देखा है।

सत्येन्द्र श्रीवास्तव

दुख के दिन हैं

दुख के दिन हैं
मुझको एक सरीखे लगते
जनम-मरण दोनों के छिन हैं
दुख के दिन हैं।

सुख दीखा जब दिया भभकने को है
सारा तेल चुक गया
संगी दीखे जब समिधा की आँच बुझ गयी
होम रुक गया।

ऐसे में कैसी मिठास
कैसी पुरवाई, क्या बतलाएँ
मेरे लेखे तो सच पूछो
सभी अगिन हैं
दुख के दिन हैं।

किशोरी रमण टंडन

मेरा गाँव

वो पनघट पे जमघट, वो सखियों की बातें
वो सोने से दिन और चाँदी-सी रातें
वो सावन की रिमझिम, वो बाग़ों के झूले
वो गरमी का मौसम हवा के बगूले
वो गुड़ियों के मेले, हज़ारों झमेले
कभी हैं अकेले, कभी हैं दुकेले
मुझे गाँव अपना बहुत याद आता।
वो ढोलक की थापें, वो बिरहा वो कजरी
वो बंसी की तानें, कड़क बोल खंजड़ी
वो पायल की छमछम, वो घुँघरू की रुनझुन
वो चरखे़ की चरमर, वो चक्की की घुनघुन
मुझे गाँव अपना बहुत याद आता।
वो पीपल की छैयाँ, नदी औ तलैयाँ
वो चम्पे के झुरमुट की सौ-सौ बलैयाँ
वो छप्पर से उठना सुबह के धुएँ का
वो अमृत-सा पानी बुआ के कुएँ का
मुझे गाँव अपना बहुत याद आता।
वो धन्नो की नानी, सुनाती कहानी
वो था एक राजा, वो थी एक रानी
वो तीजों के त्यौहार, शादी-बरातें
मोहब्बत के रिश्ते, मोहब्बत की बातें
मुझे गाँव अपना बहुत याद आता।
है लगता कि जैसे वो था एक सपना
न मैं गाँव का था न था गाँव अपना
शहर की नहीं ज़िन्दगी मुझको भाती
मुझे गाँव की याद बेहद सताती
मुझे गाँव अपना बहुत याद आता।

श्यामनन्दन किशोर

क्षुद्र की महिमा

शुद्ध सोना क्यों बनाया, प्रभु, मुझे तुमने,
कुछ मिलावट चाहिए गलहार होने के लिए !
जो मिला तुममें भला क्या
भिन्नता का स्वाद जाने,
जो नियम में बँध गया,
वह क्या भला अपवाद जाने !
जो रहा समकक्ष, करुणा की मिली कब छाँह उसको
कुछ गिरावट चाहिए, उद्धार होने के लिए !
जो अजन्मा हैं, उन्हें इस
इन्द्रधनुषी विश्व से सम्बन्ध क्या !
जो न पीड़ा झेल पाये स्वयं,
दूसरों के लिए उनको द्वन्द्व क्या !
एक स्रष्टा शून्य को शृंगार सकता है
मोह कुछ तो चाहिए, साकार होने के लिए!
क्या निदाघ नहीं प्रवासी बादलों से
खींच सावन धार लाता है !
निर्झरों के पत्थरों पर गीत लिक्खे
क्या नहीं फेनिल, मधुर संघर्ष गाता है!
है अभाव जहाँ, वहीं हैं भाव दुर्लभ—
कुछ विकर्षण चाहिए ही, प्यार होने के लिए!
वाद्य यन्त्र न दृष्टि पथ, पर हो,
मधुर झंकार लगती और भी !
विरह के मधुवन सरीखे दीखते
हैं क्षणिक सहवास वाले ठौर भी !
साथ रहने पर नहीं होती सही पहचान !
चाहिए दूरी तनिक, अधिकार होने के लिए !

राम बहादुर सिंह भदौरिया

जाने कब

छत पर तो धूप उतर आयी धीरे-धीरे
जाने कब यह मेरे आँगन में उतरेगी।
ऊपर चढ़ने की तो
लगी हुई सीढ़ियाँ,
किन्तु इसी आँगन में
ठिठुर गई पीढ़ियाँ
शीत लहर घर भीतर धूप लहर दरवाजे
जाने कब कोई किरन भेदभाव बिसरेगी।।
सुबह की हवाओं ने
खोली हैं खिड़कियाँ
लेकिन इस कमरे की
कम न हुई सिसकियाँ
घमा रही है मुँडेर, नीवें है सील रहीं
जाने कब दुपहरिया क्षण दो क्षण ठहरेगी।।
बैरिन दीवारों को
कठिन नहीं तोड़ना,
सिर्फ़ कठिन है
फिर से ईंट-ईंट जोड़ना,
नयी नींव भरने का शोर बढ़ा आँगन में,
जाने कब अन्तर्ध्वनि सजे और सँवरेगी।

गोपी वल्लभ सहाय

गीत दो लिखे मैंने

गीत दो लिखे मैंने
जन्म के मरण के
एक तुम न सुन सकी
एक मैं न गा सका !

पथ से अनजान एक अजनबी पड़ाव पर
एक नदी जन्मने लगी मेरे पाँव पर
पहचानूँ नाम धरूँ
सिर झुका प्रणाम करूँ
इससे पहले ही वह बह चली ढलाव पर
अक्षर सब बिखर गये संकल्पित मन के
शब्द तुम न हो सकीं अर्थ मैं न पा सका !

हर सुबह सुहागन हर साँझ स्वप्नवासिनी
दुपहरी बिछी ज्यों आशीषों की आसनी
पथ मैं हर एक चला
रक्त-स्वेद श्लथ ढला
सिरहाने की लौ सिन्दूरी संन्यासिनी
तिमिर ने लिखी पाती नाम से किरन के
चाँद तुम न दे सकीं सूर्य मैं न ला सका !

पूजा परिवार हो मन्दिर घर बार हो
मंगल की प्रार्थना प्यास हो पुकार हो
ऐसा कुछ हुआ नहीं
ऐसा कुछ हुआ नहीं
साँझ जले पथ पर तो दीप द्वार-द्वार हो
धरती ने पूज लिए पाँव जब गगन के
पास तुम न रह सकीं दूर मैं न जा सका !

रमेश गौड़

तेरे बिन

जैसे सूखा ताल बच रहे या कुछ कंकड़ या कुछ काई
जैसे धूल भरे मेले में चलने लगे साथ तनहाई,
तेरे बिन मेरे होने का मतलब कुछ कुछ ऐसा ही है
जैसे सिफ़रों की क़तार बाक़ी रह जाये बिना इकाई।

जैसे ध्रुवतारा बेबस हो, स्याही सागर में घुल जाये
जैसे बरसों बाद मिली चिट्ठी भी बिना पढ़े धुल जाये,
तेरे बिन मेरे होने का मतलब कुछ कुछ ऐसा ही है
जैसे लावारिस बच्चे की आधी रात नींद खुल जाये।

जैसे निर्णय कर लेने पर मन में एक द्विधा रह जाये
जैसे बचपन की किताब में कोई फूल मुँदा रह जाये,
मेरे मन पर तेरी यादें अब भी कुछ ऐसे अंकित हैं
जैसे खँड़हर पर शासक का शासन काल खुदा रह जाये।

राजेन्द्र प्रसाद सिंह

कितनी तपिश बढ़ी

पूछो इस बूँदाबाँदी से--कितनी तपिश बढ़ी

प्यास बुझा न सका जो पानी,
भीतर-भीतर उबला;
रोएँ-रोएँ से घंटों तक रिसता बाहर निकला !
उगीं घमौची और फुंसियाँ, जितना रहा नहाता;
इसी दौर में शीतलता की कितनी हविश बढ़ी !

चित्त हुआ मन-चट्टानों पर
सूख चले झरने का;
सन्नाटे का गीत हो चला—पर्व रात जगने का।
कड़आती आँखें जो लहरीं—धूप कौंधती ठहरी;
इसी दाह में रुँधे सुरों की इतनी ख़लिश बढ़ी !

हिरण हुए सपने भी लौटे,
दूब उगी करतल पर;
नाली बदली स्वच्छ नदी में, झरी लगी रह-रहकर !
धीरे-धीरे लील चुके हैं सब अजगर काग़ज़ के,
टर्राते मेंढक क्या बोलें—कितनी तपिश बढ़ी !

जयकुमार जलज

ऐसा नियम न बाँधो

हर गायक का अपना स्वर है
हर स्वर की अपनी मादकता
ऐसा नियम न बाँधो
सारे गायक एक तरह से गाएँ।

कुछ की मुखरन मौन लाँघती
कुछ का मौन शब्दकोशों मय
कुछ छुपकर भी खुले-खुले,
कुछ खुलकर भी गोपन दोषों मय।

हर मुख का अपना घूँघट है
हर घूँघट की अपनी माया
ऐसा नियम न बाँधो
सारे घूँघट एक तरह शरमाएँ।

कुछ नखशिख सागर भर देते
कुछ के निकट गगरिया प्यासी
कुछ दो बूँद बरस चुप होते
कुछ की हैं बरसातें दासी

हर बादल का अपना जल है
हर जल की अपनी चंचलता
ऐसा नियम न बाँधो
सारे बादल एक तरह चुक जाएँ।

सुख जीवन में अतिथि मात्र है
इस घर का स्वामी तो दुःख है

आँसू के सौ-सौ परदों में
मुस्कानों का नन्हा मुख है।

तुम आए हो, इससे बढ़कर
क्या घटना होगी जीवन में
इतने निकट न आओ पर
मन सुख का अभ्यासी हो जाए।

आनन्द शर्मा

दहके हुए सपन

शायद पलकों में ही तुमने रात बिता डाली
मेरी आँखों से टकराये दहके हुए सपन !

देखो तो किस तरह चाँदनी जल में काँप गई
शिरा-शिरा में एक निगोड़ी सिहरन व्याप गई
साँस पर्वतारोही दल की तरुण सदस्या-सी
चढ़ते-चढ़ते सुधियों के पर्वत पर हाँफ गई
शायद तुमने अश्रु सीपियों में फिर बन्द किये
मेरे नयनों ने बिखराये बहते हुए रतन !

रोम-रोम में व्यथा यक्ष की लक्षण वही सभी
सूनी साँझ, मेघ कजरारे, बिजली कभी-कभी
लो यह अल्कापुरी तुम्हारा विरहाकुल आनन
लगता है मैं मेघदूत लिख दूँगा अभी-अभी
शायद तुमने पुनः निमन्त्रित मेरे गीत किये
मरे अधरों पर उग आये महके हुए वचन !

अमृत समझ विष पिये उम्र इस सीमा तक प्यासी
और देह को संयम वाले नियम लगें बासी
मौन किसी सूने मठ के बूढ़े महन्त जैसा
हँसी कि जैसे भोग-वंचिता एक देवदासी
शायद तुमने आज निराशा के फिर चरण छुए
मेरे प्राण बहुत अकुलाये सहते हुए तपन !

अनूप अशेष

तड़प रहे कपोत

अन्धों को
दान मिलीं पुस्तकें,
गूँगों को हारमोनियम।

समय की
गरम-गरम हवा,
बीमारों की हुई दवा
पानी में मरीं
मछलियाँ
यों खुराक लेते ऐटम।

पर कटे
तड़प रहे कपोत,
शान्तिदूत चढ़े
युद्धपोत,
मुस्कानों में
भरा ज़हर
वर्दी में
मिलते गौतम।

डूब रहा सूर्य
अन्धकार की नदी,
गमलों में ऊँघती
गुलाब की सदी,
हाथों में खुली
शीशियाँ
मेज़ों पर फैले परचम।

इसाक 'अश्क'

न कभी गाँव के हुए

धूप के हुए
न कभी छाँव के हुए,
हम जब भी
हुए, शकुनि-दाँव के हुए।

फेंके हमने
झूठे वचनों के पासे,
जैसे कोई
धीवर मछली को फाँसे,

नदी के हुए
न कभी नाव के हुए।

लाक्षागृह
षड्यन्त्रों के सुघड़ बनाये,
अपने ही
स्वजन हमें शत्रु नज़र आये.

शहर के हुए
न कभी गाँव के हुए।
धूप के हुए
न कभी छाँव के हुए।

अखिलेश कुमार सिंह

भीग रहा है गाँव

मुखिया के टपरे हरियाये
बनवारी के घाव,
सावन की झाँसी में गुमसुम
भीग रहा है गाँव।

धन्नो के टोले का तो
हर छप्पर चलनी है,
सब की सब रातें अब तो
आँखों में कटनी हैं
चुवने घर में कहीं नहीं
खटिया भर सूखा ठाँव।

निंदियारी आँखें लेकर
खेतों में जाना है,
रोपाई करते-करते भी
कजली गाना है,
कीचड़ में ही चलते-चलते
सड़ जायेंगे पाँव।

नीलम श्रीवास्तव

ठंडा पानी भी आग उगलता है

शक्ल वही, केवल परिचय
हर रोज़ बदलता है।

शोध-शोध संज्ञाएँ रचता है पंडित दिन का,
ठंडी पड़ी अँगीठी कहती खोटा हर सिक्का
रात-रात भर छत पर कोई
गिद्ध टहलता है !

व्याख्याओं के बर्फ़घरों में धूप हुई बदरी,
बादल, वर्षा और शीत पर कागज़ की छतरी,
रेत-महल-सा हर आश्वासन
कण-कण गलता है !

कथरी ओढ़े पड़ी गुमशुदा गलियाँ हैं कब से,
घूर रही हैं राजपथों को दो मुट्ठियाँ कसे,
कभी-कभी ठंडा पत्थर भी
आग उगलता है।

अजित शुकदेव

जीवन के रेतीले तट पर

जीवन के रेतीले तट पर,
मैं आँधी-तूफ़ान लिये हूँ।

अंतर में गुमनाम पीर है
गहरे तम से भी है गहरी
अपनी आह कहूँ तो किससे
कौन सुने, जग निष्ठुर प्रहरी

पी-पीकर भी आग अपरिमित,
मैं अपनी मुस्कान लिये हूँ।

आज और कल करते-करते
मेरे गीत रहे अनगाये
जब तक अपनी माला गूँथूँ
तब तक सभी फूल मुरझाये

तेरी पूजा की थाली में,
मैं जलते अरमान लिये हूँ

चलते-चलते साँझ हो गई।
रही वही मंज़िल की दूरी
मृग-तृष्णा भी बाँध न पायी
लखन-रेख, अपनी मजबूरी

बिछुड़न के सरगम पर झंकृत,
अमर मिलन के गान लिये हूँ।

पग-पग पर पत्थर औ' काँटे
मेरे पग छलनी कर जाएँ
भ्रान्त-क्लान्त करने को आतुर
क्षण-क्षण इस जग की बाधाएँ

तुहिन तुषारी प्रलय काल में
संसृति का सोपान लिये हूँ।

ओम निश्चल

जब हवा सीटियाँ बजाती है

दूर तक
बस्तियों सिवानों में
गन्ध फ़सलों की महमहाती है,
जब हवा सीटियाँ बजाती है।

आता है बालियाँ लिए मौसम
धान का हरापन ठिठकता है,
महक उठता है ख़ुशबुओं से मन
पत्तियों में छिपी कहीं कोयल
धूप के गीत गुनगुनाती है,
जब हवा सीटियाँ बजाती है।

एक खुलती हुई हँसी जैसी
फूटती है उजास मेड़ों से,
दीखते हैं दरख़्त फैले हुए
चाँदनी के हसीन पेड़ों से,
आँख से
ओट हो गयीं सुधियाँ
पास फिर लौट-लौट आती हैं,
जब हवा सीटियाँ बजाती है।

पाट चौड़े हुए नदी के फिर
फिर हवाएँ हुईं सरस-शीतल,
मुट्ठियों से शहद छिड़कता है
द्वार का सन्त-सा खड़ा पीपल,

दिन रुई-सा
इधर-उधर उड़ता
रात अल्हड़-सी मुसकराती है,
जब हवा सीटियाँ बजाती है।

सूर्यप्रताप सिंह

पियासी आँखें

सूने पथ में खोयी होंगी–
पानी भरी पियासी आँखें।

ढरक गया होगा सूरज
उन ताड़ों के झुरमुट के नीचे,
सान्ध्य प्रभा से धूमिल महुओं
के होंगे रँग उठे बगीचे
सूख रही होगी सन्ध्या की सरिता कुहरे की रेती में,
फड़क-फड़क रह जाती होंगी।
सुधियों की अलसायी पाँखें!

सोया-सा होगा मन में
अँधियारे खँडहर का सूनापन,
बह जाती होगी निर्दय
पछुआ, सिहरा जाती होगी तन!
छू जाता होगा मन का कुछ, चुप-चुप ख़ामोशी का आलम,
हिल उठती होंगी स्पन्दन बन कर–
पतझर की सूनी शाख़ें!

और घने हो आये होंगे
आँखों के बादल बरसाती,
भर कर स्नेह जलाती होंगी
कम्पित हाथों से सँझवाती !
बुझ जाती होगी दीपों की छलना, एक बेरहम झोंका,
रह जाती होंगी केवल–
अवशेष तिमिर की उड़ती राखें।

राधेश्याम 'बन्धु'

यादों के महुआ वन

यादों के–
महुआ-वन, तन-मन में महक उठे,
आओ हम बाँहों में, गीत-गीत हो जाएँ !
दिवसों की यात्राएँ
रातों में खो गयीं,
सूर्यमुखी चर्चाएँ
छुई-मुई हो गयीं !

मौसम के–
आश्वासन, दुश्मन-से हो गये,
आओ हम राहों में, मीत-मीत हो जाएँ!

काँटे भी फूलों के
वंश बदल आते हैं,
रिश्तों के गुलदस्ते–
फिर-फिर चुभ जाते हैं !

अपने–
पिछवाड़े का हरसिंगार कहता है
आओ हम चाहों में, प्रीत-प्रीत हो जाएँ!

पुष्पा अवस्थी

पिया पिया रात भर

पिया पिया रात भर पुकारा किया कोई,
चाँद को अकेले ही निहारा किया कोई।
जंगली हवाएँ टिमटिमाती हुई बस्तियाँ,
प्यार की नदी में तैरती हुई ये क़िश्तियाँ।
तारिकाएँ डूबने लगीं तो ये हुआ कि फिर,
चाँदनी की प्यास को निहारा किया कोई।
पिया पिया रात भर पुकारा किया कोई।।

काली काली नदियों-सा तैरता तिमिर घना,
और इनकी हर तरंग में सुबह का सामना।
किसी ने किरण का दर्द पी लिया, मगर उधर,
आँसुओं को आँख से उतारा किया कोई।
पिया पिया रात भर पुकारा किया कोई।।

आस-पास था न कोई, बस सफ़र था सामने,
साँस का ही-टूटता हुआ-सा घर था सामने।
स्वप्न के नगर में सत्य ढूँढ़ता रहा कोई,
टूटी हुई नींद को सँवारा किया कोई,
पिया पिया रात भर पुकारा किया कोई।।

नीलम सिंह

खोलें तो कौन-सी दिशा खोलें

खोलें तो कौन-सी दिशा खोलें।

इतने सारे सवाल एक साथ
किसको छोड़ें, किसका हो लें।

वर्षा ने धोये दीवारों के कुछ निशान
सूरज ने रँगा किन्तु कमरे का आसमान
कई एक गुलदस्ते, कई एक राखदान...
कमरे में, अपनी-अपनी ज़िद में डोलें।

डह-डह फूले पलाश दिखते आते-जाते
आँखों को भाते जो, बाँह में नहीं आते
आते-आते जाते, जाते-जाते रुकते...
भूलें, यादें, वादे जेब को टटोलें।

छत जितनी ऊँची, छोटा उतना आदमी
शिखरों पर चढ़कर ऊँचा होता आदमी
भीतर का अन्धकार, बाहर की रोशनी
होंठों पर हँसी और तलवों में कीलें।

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'

आँखों में रेत प्यास

फूलों के बिस्तर पर
नींद क्यों नहीं आती,
चलो, कहीं सूली पर, सेज हम बिछाएँ।
दूर-दूर तक कोई
नदी नहीं दिखती है।
हिरनों की आँखों में
रेत प्यास लिखती है।
घाटी में हँसते हैं,
बुत ही बुत पत्थर के,
चलो, कहीं सूने में, ख़ुद से बतियाएँ।
आग हुई धुआँ-धुआँ
अँधियारा गहराया।
पेड़ों पर पसर गया
गाढ़ा काला साया।
आगे है मोड़ों पर
बियाबान सन्नाटा
चलो, कहीं पिछली पगडण्डी गुहराएँ।
तुम से जो मुमकिन था
अभिनय वह ख़ूब किया।
वह देखो सूर्यध्वज
जुगनू ने थाम लिया।
मंच पर उभरने को
एक भीड़ आतुर है,
चलो, कहीं पर्दे के पीछे छिप जाएँ।

प्रेम तिवारी

घर की बात

जागे-जागे
सपने भागे
        आँचल भर बरसात।

मैं होती हूँ
तुम होते हो
        सारी-सारी रात।

        नीम-हकीम मर गया कब का
        घर-आँगन बीमार,
        बाबू जी तो दस पैसा भी
        समझे हैं दीनार,
        ऊब गयी हूँ
        कह दूँगी मैं ऐसी-वैसी बात।

दादी ठहरीं
भीत पुरानी
                दिन-दो दिन मेहमान,
गुल्ली-डण्डा खेल रहे हैं,
                बच्चे हैं नादान।
टूटी छाजन
झेल न पाएगी अगली बरसात।

        हल्दी के सपने आते हैं
                ननदी को दिन-रैन,
        हमें पता है सोलह में
        मन होता है बेचैन
        कोई अच्छा-सा घर देखो
        ले आओ बारात।

प्रेमशंकर मिश्र

क़ैद हो गया सारा देश

सूरज ने बदल लिया वेश।
सुबह मिलीं कँपती परछाइयाँ
सपनों पर पड़तीं वे झाइयाँ
अठपहले आतिशी कटोरे में
क़ैद हो गया सारा देश।

यादों की टूटती मुंडेरें
आकृति को छायाएँ घेरें,
रेखाएँ काट रहीं ख़ुद को
बदल गया कल का परिवेश।

एक भूल भुए को समेटना,
आदमक़द शीशे को भेंटना,
सूखी हरियाली को सींचना
पत्थर में चंचु का प्रवेश।

रमेश गौतम

एक दुष्यन्ती सवेरा

एक दुष्यन्ती सवेरा खोजते
थक गये दो नयन
शाकुन्तल हमारे।

पहनकर इठला उठीं
जिनको अभागी उँगलियाँ
खा गयी वे मुद्रिकाएँ
राजनीतिक मछलियाँ
आत्मनिर्वासित
समेटे छानते हैं धूल
नदियों के किनारे।

स्वप्न में अल्कापुरी के
नागरिक जब भी बने
जागते ही
शब्दबेधी वाण सीनों पर तने
बन्द होठों पर धरे कुरुक्षेत्र
स्वयं से लड़ते हुए
हर युद्ध हारे।

आग में तप तन यहाँ
सामर्थ्य सीमा का थका
मोहती हर बार
विश्वामित्र को है मेनका
साम, दाम व दण्ड अथवा भेद से
जीतते शतरंज के घोड़े तुम्हारे।

सुरेश सलिल

जगत-गति

जगत-गति मों से बूझी न जाये।

इसको देखा—उसको परखा
कैसी आँच—कहाँ की बरखा !
सूत-कपास बिना हर चरखा-
छूँछो ही शोर मचाय।
जगत-गति मों से बूझी न जाये।

सगरे मीत मगन-मन भटकत
बीती बयस हितुन हित भटकत
छिन मन अटकत, छिन ही उचटत-
गरब खड़ो, रे, मुस्क्याय।
जगत-गति मों से बूझी न जाये।

लाभ-लोभ को पहिरि चोलना
साह की ड्योढ़ी सतत डोलना
मतलब-भर की बात बोलना—
चलन यू या नगरी को आय।
जगत-गति मों से बूझी न जाये।

विष्णु विराट

एक नीली आँख

एक नीली आँख का पाकर इशारा
आँधियों ने
फिर उखाड़ी बस्तियाँ।।
        खेत रूँधे
        ख़ूब खुल ख़ुलिहान खूँदे,
        बैल भागे बनचरों से जुड़ गये।
        थरथराई झोंपड़ी
        कच्चे घरों की रह गई दीवाल
        छप्पर उड़ गये।
फिर उफनने लग गया
पानी नदी का,
फिर किनारे बँधी
डूबी कश्तियाँ।।

        लोग अधनंगे
        करम को कोसते हैं
        सोचते अवतार कोई आयेगा
        देवता कोई कृपा करके गगन से
        रोटियों की थैलियाँ बरसायेगा।

एक शातिर आँख फिर
उभरी गगन में
साथ में नीलाम्बरी
कुछं हस्तियाँ।।

दान में
बाँटी गयी थीं धोतियाँ कुछ
चन्द टुकड़े फेंक
भूखी आँत को।
ढेर-से आश्वासनों के
स्वप्न देकर
फिर सभा-सुरपुर
सँजोई रात को।

अप्सराएँ
वारुणी के पान देतीं
सुर-असुर सब मिल
मनाएँ मस्तियाँ।।

राजेन्द्र गौतम

पिता सरीखे गाँव

तुम भी कितने
बदल गये हो पिता सरीखे गाँव !

परम्पराओं का
बरगद-सा
कटा हुआ यह तन
बो देता है रोम-रोम में
बेचैनी सिहरन
तभी तुम्हारी ओर उठे ये ठिठके रहते पाँव।

जिसकी वत्सलता में डूबे
कभी सभी संत्रास
पच्छिम वाले
उस पोखर की
सड़ती है अब लाश

किसमें छोड़ूँ
सपनों-वाली काग़ज़ की वह नाव !

इस नक़्शे से
मिटा दिया है किसने मेरा घर
बेखटके क्यों घूम रहा है
एक बनैला डर !

मन्दिर-वाले
पीपल की भी घायल है अब छाँव !

वशु मालवीय

वक़्त के बुरादे

आँखों में चुभते हैं वक़्त के बुरादे।
कुशल-क्षेम
पैने नाखून के इरादे।

दस्ताने छिपा रहे
झूलती उँगलियाँ
वहशी उन्मादों ने
तोड़ दी पसलियाँ
'हुआ-हुआ' के ऊपर शोर के लबादे।

भाषाई प्रश्नों की
अंतहीन गलियाँ
लील रहीं
अपनी ही जाति
कुछ मछलियाँ
परसे हैं थाली में, समझौते सादे।

नयी सदी, नया साल
लगा भला चोखा
सपने हैं आगत के
वर्तमान धोखा
चकलाघर पाल रहे वक्त के शहज़ादे।

श्याम निर्मम

कण्ठ सभी भर्राये

आँखों में सपनों की भरी नदी सूख गयी,
और हमें मरुथल के संग-संग बहना है।

गढ़ते वक्तव्य रहे
बस्ती के सीने पर,
खिसकाकर सीढ़ियाँ
चढ़ते ख़ुद ज़ीने पर।

पान कर हलाहल का कण्ठ सभी भर्राये,
और हमें पीड़ा को गा-गाकर कहना है।

पर्वत-सा दर्द भले
सुना रही बाँसुरी,
रोम-रोम आग हुई
प्राणों की माधुरी।

जीवन का फलसफ़ा समझा नहीं पाये हैं,
और हमें दुःख-सुख को साथ-साथ सहना है।

इस जलते अम्बर से
टूटेंगी बिजलियाँ,
प्यास को बुझाने में
तड़पेंगी मछलियाँ।

समय की तरंगों से बर्फ़ नहीं हो पाये,
और हमें अग्नि के मुहानों में दहना है।

ऐसी कुछ गंध भरें
मन गुलाब हो जाये,
अमृत ऐसा चख लें
सब अलाव हो जाये।

सोने-सा जीवन यह मिट्टी हो जाना है,
और हमें धारा बन सागर तक बहना है।

शीलेन्द्र सिंह

कुटी चली परदेस कमाने

कुटी चली परदेस कमाने
घर के बैल बिकाने।
चमक-दमक में भूल गई है,
अपने ताने-बाने।

राड बल्ब के आगे फीके
दीपक के उजियारे।
काट रहे हैं फ़ुटपाथों पर
अपने दिन बेचारे।

कोलतार सड़कों पर चिड़ियाँ
ढूँढ़ रही है दाने।

एक-एक रोटी के बदले
सौ-सौ धक्के खाये,
किन्तु सुबह के भूले पंछी
लौट नहीं घर आये।

काली तुलसी नागफनी के
बैठी है पैताने।।

गोदामों के लिए बहाया
अपना ख़ून-पसीना।
तन पर चमड़ी बची न बाक़ी।
ऐसा भी क्या जीना।

छाँव बरगदी राजनगर में
आई गाँव बसाने।।

राम सेंगर

पानी है भोपाल में

भैंस कटोराताल में।
हम भी क्या हैं
आधे पागल
छलका डाली पूरी छागल
        अटक गयी है प्यास हलक में
पानी है भोपाल में।

ऊधो कहते
माधो सुनते
अपनी-अपनी तानी बुनते
        बहस छिड़ी जीने-मरने पर
पान दबे हैं गाल में।

धींगामस्ती का आलम है
गुल चिराग़ है
पगड़ी गुम है
फुदक रही है एक चिरैया
बहेलिया के जाल में।

वीरेन्द्र कुमार वसु

पर बरसे नहीं

बादल तो छाये
मेघ लहराये
पर बरसे नहीं।

आसों की झलक मिली
निर्निमेष पलक मिली
अब बरसे, तब बरसे
वर्षा की ललक मिली

पंख लहराये
मोर फड़फड़ाये
पर सरसे नहीं।

छलना ही नियति है
कैसे यह गति है
पथ तो संघर्ष भरे
कहीं भी न यति है

पग डगमगाये
पथ भी भरमाये
पर डर से नहीं।

कैसे ये खेल रहे
जीवन ज्यों जेल रहे
भ्रम के भौंजाल खड़े
दुःख सारे झेल रहे

मन गुनगुनाये
गीत-धुन सुनाये
पर हरसे नहीं।

कन्हैयालाल बाजपेयी

सोने के हिरन नहीं होते

आधा जीवन जब बीत गया
वनवासी सा गाते-रोते
अब पता चला इस दुनिया में
सोने के हिरन नहीं होते।

सम्बन्ध सभी ने तोड़ लिए
चिन्ता ने कभी नहीं तोड़े
सब हाथ जोड़कर चले गये
पीड़ा ने हाथ नही जोड़े

सूनी घाटी में अपनी ही
प्रतिध्वनियों ने यों छला हमें
हम समझ गये पाषाणों में—
वाणी, मन, नयन नहीं होते।

मन्दिर-मन्दिर भटके—लेकर,
खंडित विश्वासों के टुकड़े
उसने ही हाथ जलाये, जिस—
प्रतिमा के चरण युगल पकड़े

जग जो कहना चाहे, कह ले
अविरल दृग जल धारा बह ले
पर जले हुए इन हाथों से
हमसे अब हवन नहीं होते।

विद्यानन्दन राजीव

यायावर हम

सीमाओं से अधिक
नहीं
बढ़ने दें अपनी प्यास।

और निकट आएँ
साँसों से
साँसों को जोड़ें,
बैठी मौन
आचरण पर
वह हदबन्दी तोड़ें,
चलो, करें कुछ
अनहोना-सा
होने का अहसास।

शंकाएँ पाली-पोसीं
गलियों-गलियारों की
फिर भी
व्यथा-कथा
चलती रहती मनुहारों की,
यायावर हम
खोजा करते
नित्य नया आकाश।

रामसेवक श्रीवास्तव

आँखें सकुचाती रहीं

आँखें सकुचाती रहीं आँख को छूने से
मैं सिर्फ़ देखता रहा कि मौसम बीत गया।

मैं फूल टाँकता रहा सुबह के जूड़े में
मैं किरनें जड़ता रहा साँझ के कंगन पर;
यह गन्ध, यह लहर, वह बादल,
मैं रहा खोजता बैठ हवा की पाँखों पर

चुक गयी उमर ही जीने की तैयारी में
रह गये सहमते होंठ–होंठ के परिचय से
अब झिझक गयी, तो लगता–रस ही रीत गया !

संज्ञा कहती मैं ने दर्पन को नेह दिया
दर्पन कहता मुझ को कोंपलों–टहनियों का;
रोशनी दुखी है मुझ से खिड़की खुली नहीं
ताना सुनता हूँ नींद चुराती ध्वनियों का;

भर कर पल्लव, अक्षत, पराग अंजलियों में–
रह गया झुका ही मैं प्रतिमा की पूजा में
मैं सिर्फ़ यूँ ही रह गया कि मौसम बीत गया।

धनंजय सिंह

दिन क्यों बीत गये

कौन किसे
क्या समझा पाया
लिख-लिख गीत नये।
दिन क्यों बीत गये !

चौबारे पर दीपक धरकर
बैठ गयी संध्या
एक-एक कर तारे डूबे
रात रही बंध्या।

यों
स्वर्णाभ-किरण-मंगल-घट
तट पर रीत गये।

छप-छप करती नाव हो गयी
बालू का कछुआ
दूर किनारे पर जा बैठा
बंसीधर मछुआ।

फिर
मछली के मन पर काँटे
क्या-क्या चीत गये।

महेश आलोक

एक मौन...पलकों पर

एक मौन चुपके से रेंगकर
दबे पाँव पलकों पर सो गया।

इधर-उधर
रोशनी सरक गयी
        तिरछे कुल
        आचरण हुए
महुवे की गंध
पिये दर्द के
        बेलगाम
        संचरण हुए
        पकी धूप
        डँसना था
        डँस गयी
        कुछ का कुछ होना था हो गया।

क ख ग
बातों के सिलसिले
        हिलते रूमाल हो गए

आसपास भी
हवा बदल गयी
        हम गुज़रे साल हो गये
        सुबह-शाम
        सिन्दूरी रंग एक
        कन्धों तक सन्ताप बो गया।

प्रतीक मिश्र

कभी-कभी खलने लगता है

कभी-कभी खलने लगता है मुझको अपना संन्यासीपन।

रूप द्वार पर दस्तक देता,
पल भर में मन को हर लेता,
उलझन से हो जाती उलझन
हो जाती अपने से अनबन।
कभी-कभी खलने लगता है मुझको अपना संन्यासीपन।

रस रंगिणी तितलियाँ आतीं,
नव वसन्त के राग सुनातीं,
गति त्रिशंकु जैसी हो जाती
मरुथल जैसा लगता मधुवन।
कभी-कभी खलने लगता है मुझको अपना संन्यासीपन।

मुग्ध विमोहित हो जाता हूँ,
स्वप्नलोक में खो जाता हूँ,
छवि अपनी झूठी लगती है,
लगता झूठा-झूठा दर्पण।
कभी-कभी खलने लगता है मुझको अपना संन्यासीपन।

भीतर से कितना रीता हूँ,
अन्तर्द्वन्द्वों में जीता हूँ,
दहकन हूँ ज्वालामुखियों की
पर ऊपर से चन्दन-चन्दन,
कभी-कभी खलने लगता है मुझको अपना संन्यासीपन।

कमलकान्त बुधकर

नदी का गीत

कई दिनों से मेरे भीतर एक नदी बहती है,
बहती-बहती अक्सर मेरे कानों में कहती है—
जीवन धार है, जीवन प्यार है !

प्रश्नों के परबत से जूझो उत्तर झरते हैं,
झर-झरकर ये सारे झरने नदिया बनते हैं।
भरी हुई नदिया जब हँसती बल खाती चलती है,
मन की सूखी धरती पर तब हरियाली खिलती है।
खिलना प्यार है, जीवन धार है !

धार प्यार है प्यार धार है, यही जुगलबन्दी है,
इन दोनों के बिना ज़िन्दगी मरुथल की बन्दी है।
जो जीवन मरुथल हैं यारों उन्हें बचा लो रे,
गति-रति वाली मन-गंगा में उन्हें बहा लो रे।
बहना प्यार है, जीवन धार है !

यह दुनिया पहाड़ है भाई, इस पर चढ़ना है,
हमें भगीरथ बन नदिया की ख़ातिर लड़ना है।
हर मन की गंगोत्री के तब हम कपाट खोलेंगे,
झर-झर हर-हर स्वर नदिया के यह रहस्य खोलेंगे—
जीवन धार है, जीवन प्यार है !

सूर्यकुमार पांडेय

गाँव में मैं

गाँव में मैं
गीत के आया
मुझे ऐसा लगा
मेरा खरापन शेष है।

वृक्ष था मैं एक
पतझड़ में रहा मधुमास-सा,
पत्र-फल के बीच
यह जीवन जिया
संन्यास-सा

कोशिशें बेशक मुझे
जड़ से मिटाने की हुईं
मेरा हरापन शेष है।

सीख पाया मैं नहीं
इस दौर
जीने की कला,
घोंट पाया स्वार्थ
पल को भी नहीं मेरा गला

गागरें रीतीं न मेरी
किसी
प्यासे घाट पर
मेरा भरापन शेष है।

माधव 'मधुकर'

साँस क्यों रुकने लगी है

आ गया है वक़्त अब यह देखने का
आस की हर साँस क्यों रुकने लगी है ?
बैठकर कुछ देर अपने साथ सोचें
पीर क्यों हर आँख में दिखने लगी है ?

ज़िन्दगी के सीप के मोती कहाँ हैं ?
आस के मस्तूल क्यों टूटे हुए हैं
हिरनियों की आँख क्यों छलकी हुई है
तितलियों के रंग क्यों छूटे हुए हैं ?

टूट कर गिरने लगे हैं फूल-पत्ते
बिषबुझी कैसी हवा चलने लगी है ?

हम चले थे इक नई दुनिया बसाने
था कहाँ जाना कहाँ पर आ गये हैं
नाव है मझधार में, पतवार ग़ायब
और चारों ओर बादल छा गये हैं

नाविकों ने इस क़दर धोखा दिया है
हर लहर अब भँवर-सी लगने लगी है।

हर तरफ़ है आज जंगल-राज क़ायम
हर बली निर्बल को खाता जा रहा है
सिर्फ़ रुपया हो गया सर्वस्व अब तो
इससे अब सब कुछ ख़रीदा जा रहा है

तन तो पहले भी बिका करते थे लेकिन
आत्मा भी अब यहाँ बिकने लगी है।

हरीश निगम

ख़ूनी पगडंडियाँ

होंठ फटे गाँव के
धूप धूप नेह हुए
पीपल की छाँव के

सीख ली हवाओं ने
बारूदी बोलियाँ
मिट्ठू की राम-राम
भून रही गोलियाँ
क़िस्से कुहराम हुए
खपरैली ठाँव के।

खाती हैं ठोकरें
पीती है सीटियाँ
ठाकुर के क़र्ज़ों में
दबी हुई भीतियाँ
बूटों से कुचल गए
बिरहा डुमराँव के।

धूल भरी आँधी में
सपनों की चिंदियाँ
दरके हैं रंग हरे
ख़ूनी पगडंडियाँ
नाम हुए हर बबूल
अपने ही पाँव के।

वीरेन्द्र आस्तिक

कितना चाहते हैं

चन्द शब्दों से अधिक
हम कुछ न दे पाये कभी
और कितना चाहते हैं
ये बता पाये नहीं।

बस हवा में बात करके
ज़िन्दगी कटती कहाँ
और थोड़ी-सी कमाई में
ख़लिश मिटती कहाँ ?

इस हक़ीकत से कभी हम
जब कि कतराये नहीं ?

मान लो हर राज़ दुनिया का
पता कर भी लिया
मुक्ति का अहसास भी यदि
जी लिया तो क्या किया ?

ये करिश्मे भी किसी के
काम तो आए नहीं

जब कभी ख़ुद बात
अपनी साफ़गोई में फँसी
तो रही दो आँसुओं में
डूबने की बेबसी।

मौन से ज़्यादा
सुरीले गीत भी भाये नहीं।

रमेश कौशिक

तन कहीं है, मन कहीं है

तन कहीं है, मन कहीं है
गीत गाने का समय बिलकुल नहीं है।

आँख में तिरते बहुत मासूम सपने
आग धरती की जलाती पाँव अपने
यह घड़ी नाज़ुक बड़ी है
सोचनेवाले अभी सोचें कि मेरी
बात कितनी झूठ औ' कितनी सही है।

खो गया संगीत है युग के हृदय का
सब कहीं संघर्ष अब तो हार जय का
तुम कहो, कैसे कहूँ मैं
द्वन्द्व से भरपूर जीवन की कहानी
आस्था जीवित न जब इन्सान की है।

प्राण कोकिल ने सभी कुछ तो कहा है
देह के पशु ने सभी कुछ तो सहा है
किन्तु फिर भी बात ऐसी
ज्यों नहीं कुछ भी हुआ कुछ भी सुना है
यह अनोखी रीति जगती की रही है।

आत्मप्रकाश शुक्ल

माटी का पलंग मिला

माटी का पलंग मिला राख का बिछौना !
ज़िन्दगी मिली कि जैसे काँच का खिलौना !

एक ही दुकान में सजे हैं सब खिलौने
खोटे-खरे, भले-बुरे, साँवरे, सलोने
कुछ दिन दिखे पारदर्शी, चमकीले,
उड़े रंग, निरे अंग हो गये घिनौने
जैसे-जैसे बड़ा हुआ, होता गया बौना !
ज़िन्दगी मिली कि जैसे काँच का खिलौना !

मौन को अधर मिले अधरों को वाणी
प्राणों को पीर मिली पीर को कहानी
मूठ बाँध आये, चले ले खुली हथेली,
पाँव को डगर मिली वह भी आनजानी
मन को मिला है यायावर मृग-छौना !
ज़िन्दगी मिली कि जैसे काँच का खिलौना !

धरा, नभ और पवन, अगिन और पानी
पाँच लेखकों ने लिखी एक ही कहानी
एक दृष्टि है जो सारी सृष्टि में समाई
एक शक्ल की ही सारी दुनिया दिवानी
एक मूँठ माटी गयी तौल सारा सोना !
ज़िन्दगी मिली कि जैसे काँच का खिलौना !

शोर भरी भोर मिली, बावरी दुपहरी
साँझ थी सयानी किन्तु गूँगी और बहरी
एक रात लाई बड़ी दूर का संदेशा—
फ़ैसला सुना के ख़त्म हो गई कचहरी
ओढ़ने को मिला वही दूधिया उढ़ौना।
ज़िन्दगी मिली कि जैसे काँच का खिलौना !

विद्या सागर वर्मा

बीते दिन, वर्ष !

बीते दिन, वर्ष !
रोज़ जन्म लेती–
शंकाओं के रास्ते
घर से दफ़्तर तक की दूरी को नापते
बीते दिन-दिन करके
वर्ष, कई वर्ष।

आँखों को पथराती तारकोल की सड़कें
बाँध गईं खण्डित गति
थके हुए पाँवों में,
अर्थ भरे प्रश्न उगे
माथे की शिकनों पर
हर उत्तर डूब गया खोखली उछाहों में;

दीमक की चिन्ताएँ–
चाट गईं जर्जर तन
बैठा दायित्वों की देहरी पर नील गगन
वेतन के दिन का
पर्याय हुआ हर्ष।

सरकारी पत्रों के सन्दर्भों-सी साँसें
छुट्टी की अर्ज़ी-सा सुख
रीते जीवन में,
मेज़ों पर मुड़ी-तुड़ी
फ़ाइल-से बिखरे हम
अफ़सर की घण्टी-से आकस्मिक भय मन में

आगत की बुझी हुई—
भोरों से ऊबे हम
वर्तमान की टूटी सन्ध्या-से डूबे हम
हाटों में घूम रहे
ले ख़ाली पर्स।

बीते दिन-दिन करके वर्ष, कई वर्ष।

(श्रीमती) रमा सिंह

मन बंजारा

मन बंजारा गाते-गाते
थककर कितना चूर हुआ
सपने अपने बेच रहा है
पल-पल को मजबूर हुआ !
छोटी-छोटी बातें
मेरे मन को रोज लुभाती हैं
सोते-जगते, चलते-फिरते
जाने क्या कह जाती हैं
उसका प्यारा मौन प्रीत की
चाहों का दस्तूर हुआ !
सपने तो केवल सपने हैं
मृगतृष्णा हैं मरुथल की
सबकी आँखों में रहती है
एक कहानी बादल की
गिरा माँग में उसका आँसू
तो गिरकर सिन्दूर हुआ !
दुनिया तो है आनी-जानी
कौन यहाँ रह पाया है
कड़ी धूप में ये बादल-सी
चलती-फिरती माया है
लेकिन जो बस गया आँख में
वो सपना कोहिनूर हुआ !

योगेन्द्र दत्त शर्मा

यह भरा दिन भी...

आह !
यह भरा दिन भी
घुल गया तनावों में !
बुझे हुए रिश्तों को, आँसू से नहलाना।
सिर-विहीन गुड़िया से, उखड़ा मन बहलाना।।
पिस गया हरापन भी
अनकहे दबावों में !

क़हक़हों, ठहाकों के, बाद का अकेलापन।
भीड़, समारोहों के, बीच में उगा निर्जन !
छीन गया अपनापन
टूटते लगावों में

रोज़ का यही क़िस्सा, घर से बाहर जाना।
सड़कों से एक नया, हादसा उठा लाना।
छूटते ज़रूरी सन्दर्भ,
रख-रखावों में !

सान्त्वना, भरोसा या गहरी आत्मीयता।
शब्दों का खेल सिर्फ़ हमदर्दी लापता।
खो गया सहज बचपन
रेशमी भुलावों में !

नरेन्द्र दीपक

मैं सबको आशीष कहूँगा

मेरे पथ में शूल बिछाकर दूर खड़े मुस्कानेवाले
दाता ने सम्बन्धी पूछे पहला नाम तुम्हारा लूँगा।

आँसू आहें और कराहें
ये सब मेरे अपने ही हैं
चाँदी मेरा मोल लगाये
शुभचिन्तक ये सपने ही हैं
मेरी असफलता की चर्चा घर-घर तक पहुँचानेवाले
वरमाला यदि हाथ लगी तो इसका श्रेय तुम्हीं को दूँगा।

सिर्फ़ उन्हीं का साथी हूँ मैं
जिनकी उम्र सिसकते गुज़री
इसीलिये बस अँधियारे से
मेरी बहुत दोस्ती गहरी
मेरे जीवित अरमानों पर हँस-हँस कफ़न उढ़ानेवाले
सिर्फ़ तुम्हारा क़र्ज़ चुकाने एक जनम मैं और जिऊँगा।

मैंने चरण धरे जिस पथ पर
वही डगर बदनाम हो गयी
मंज़िल का संकेत मिला तो
बीच राह में शाम हो गयी
जनम-जनम के साथी बनकर मुझसे नज़र चुरानेवाले
चाहे जितने श्राप मुझे दो मैं सबको आशीष कहूँगा।

प्रस्तुत संचयन के संकलित कवि

(अकारादि क्रम में)

परिशिष्ट II

गीतों की प्रथम पंक्ति

(अकारादि क्रम में)